रूपक-रहस्य

रूपक-रहस्य

अर्थात्

भारतीय नाट्य-शास्त्र के विविध तत्त्वों तथा
तथ्यों का वर्णन और विवेचन

लेखक

श्यामसुंदरदास

पीतांबरदत्त बड़थ्वाल

प्रकाशक

इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग

१९८८

प्रथम संस्करण] [मूल्य २)

भूमिका

संवत् १९८२ की नागरीप्रचारिणी पत्रिका (भाग ६ अंक १, पृष्ठ ४३-१०२) में मैंने भारतीय नाट्य-शास्त्र पर एक लेख का लगभग आधा अंश छपवाया था। उस समय मुझे काशी विश्व-विद्यालय के एम० ए० क्लास के विद्यार्थियों के लिये यह विषय प्रस्तुत करना पड़ा था। पहले मैंने इस विषय की सामग्री प्रस्तुत करना आरंभ किया था। जब पर्याप्त सामग्री इकट्ठी हो गई तब यह इच्छा हुई कि यदि इसे लेख-रूप में लिख लिया जाय तो विद्यार्थियों के लिये अधिक उपयोगी होगा। उस समय जितना हो सका लेख-रूप में लिख लिया गया और वह नागरीप्रचारिणी पत्रिका में प्रकाशित हो गया। शेष अंश अब तक न लिखा जा सका। पढ़ाने का काम प्रस्तुत सामग्री से लिया जाता था। बीच बीच में अवकाश मिलने पर कुछ कुछ लिख भी लिया जाता था। अंत में मेरे प्रिय विद्यार्थी पंडित पीतांबरदत्त बड़थ्वाल ने यह इच्छा प्रकट की कि यदि सब सामग्री मैं उन्हें दे दूँ और अपना परामर्श देता रहूँ तो वे इस विषय को पुस्तक-रूप में प्रस्तुत कर दें। मैंने सहर्ष इस प्रस्ताव को स्वीकार किया और क्रमशः यह पुस्तक तैयार हो गई। उदाहरणों का संकलन करने में मेरे दो विद्यार्थियों—पंडित सीताराम चतुर्वेदी एम० ए० तथा पंडित जगन्नाथप्रसाद शर्मा एम० ए०—ने मेरी विशेष रूप से सहायता की है और मेरे मित्र पंडित केशवप्रसाद मिश्र ने समस्त आठवें अध्याय तथा अन्य कई अंशों को पढ़कर सत्परामर्श से मेरी अमूल्य सहायता की है। इन सबको मैं हृदय से धन्यवाद

देता हूँ। इस प्रकार जिस सामग्री का संग्रह करना संवत् १९८१ में आरंभ हुआ था वह सात वर्षों के अनंतर उपयोग में आकर अब पुस्तक-रूप में प्रकाशित होती है। आशा है, यह पुस्तक विद्यार्थियों के लिये उपयोगी सिद्ध होगी।

हिंदी में नाट्य-शास्त्र पर पहले पहल भारतेंदु हरिश्चंद्र ने एक लेख लिखा था। इसके अनंतर पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी ने एक पुस्तिका में इस विषय को कुछ अधिक विस्तार दिया था। अब इस विषय की यह तीसरी पुस्तक प्रकाशित होती है। आशा है, इससे भारतीय नाट्य-शास्त्र के तत्त्वों को समझने में सहायता मिलेगी। संस्कृत में इस विषय पर अनेक ग्रंथ हैं, पर मैंने अपना मूलाधार धनंजय-कृत 'दशरूपक' तथा उस पर धनिक की टीका को बनाया है। अनेक स्थानों पर रसार्णवसुधाकर, साहित्य-दर्पण तथा भरत मुनि के नाट्य-शास्त्र का उपयोग भी किया गया है। कई स्थलों पर स्वतंत्र विवेचन भी किया गया है तथा अपनी बुद्धि के अनुसार गूढ़ और अस्पष्ट स्थलों की ग्रंथियों को सुलझाने का उद्योग किया गया है। इस कार्य में कहाँ तक सफलता प्राप्त हुई है और कहाँ तक मेरा विवेचन सार्थक हुआ है—यह इस शास्त्र के विद्वानों के समझने और विचारने की बात है। यदि मुझे उनकी सम्मति जानने का सौभाग्य प्राप्त हो सके और साथ ही इस ग्रंथ की दूसरी आवृत्ति छापने के भी दिन आवें तो मैं यथाशक्य इसके दोषों और त्रुटियों को दूर करने का उद्योग करूँगा।

२९—१०—३१ श्यामसुंदरदास

विषय-सूची

पहला अध्याय

रूपक का विकास

दूसरा अध्याय

रूपक का परिचय

तीसरा अध्याय

वस्तु का विन्यास

चौथा अध्याय

पात्रों का प्रयोग

पाँचवाँ अध्याय

वृत्तियों का विचार

छठा अध्याय

रूपक की रूप-रचना

सातवाँ अध्याय

रूपक और उपरूपक

आठवाँ अध्याय

रसों का रहस्य

नवाँ अध्याय

भारतीय रंगशाला या प्रेक्षागृह

अनुक्रमणिका

रूपक-रहस्य

पहला अध्याय

रूपक का विकास

मनुष्य की प्रारंभिक शिक्षा का आधार अनुकरण है। यह अनुकरण मनुष्य की भाषा, उसके वेश और व्यवहार की शिक्षा के लिये अनिवार्य साधन है। यह साधन केवल मनुष्यों के लिये ही नहीं वरन् अन्य जीवों के व्यवहार के लिये भी अपेक्षित है। इसी अनुकरण की सामान्य प्रवृत्ति, कुछ परिमार्जित और समुन्नत होकर, समाज के असामान्य व्यक्तियों के व्यापारों तक ही परिमित हो जाती है और उसका उद्देश्य किसी निर्दिष्ट आदर्श को स्थापित करना अथवा लोक-रंजन करना होता है। यहाँ असामान्य व्यक्तियों के व्यापारों से यह अर्थ नहीं है कि सामान्य लोगों के अनुकरण की उपेक्षा की गई है। इसका उद्देश्य केवल उन व्यक्तियों के व्यापारों से है, जिनसे नाट्य-प्रयोक्ताओं का अर्थ सिद्ध हो। मानव-जीवन के सभी व्यापार इसके अंतर्गत आ जाते हैं। इस अवस्था को प्राप्त होकर अनुकरण एक निर्दिष्ट रूप धारण कर लेता है। इसी प्रकार के प्रौढ़ अनुकरण अथवा नाट्य का कलात्मक विकास होकर नाट्य-शास्त्र की उत्पत्ति हुई है। दृश्य काव्य के द्वारा ही नाट्य की अभिव्यक्ति होती है।

बीज

काव्य दो प्रकार होते हैं—एक दृश्य, दूसरा श्रव्य। दृश्य काव्य वह काव्य है जो देखा जा सके, जिसमें नाट्य की प्रधानता हो, जिसको देखने से ही विशेष प्रकार से रस की अनुभूति हो और जिसका अभिनय किया जा सके। इसी दृश्य काव्य को संस्कृत आचार्यों ने 'रूपक' नाम दिया है। रूपक में अभिनय करनेवाला किसी दूसरे व्यक्ति का रूप धारण करके उसके अनुसार हाव-भाव करता और बोलता है। इस प्रकार एक व्यक्ति या उसके रूप का आरोप दूसरे व्यक्ति में होता है, इसलिये ऐसे काव्य को 'रूपक' नाम दिया गया है। मान लीजिए कि इस प्रकार के किसी काव्य में राम, कृष्ण, युधिष्ठिर या दुष्यंत के संबंध में रूपक प्रदर्शित किया जाता है, तो जो अभिनेता राम, कृष्ण, युधिष्ठिर या दुष्यंत का रूप धारण करेगा वह वैसा ही आचरण करेगा जैसा राम, कृष्ण, युधिष्ठिर या दुष्यंत ने उस अवस्था में किया होगा। उसकी वेश-भूषा, बोलचाल आदि भी उसी प्रकार की होगी, अर्थात् वह भिन्न व्यक्ति होने पर भी दर्शकों के सामने राम, कृष्ण, युधिष्ठिर या दुष्यंत बनकर आवेगा और दर्शकों को इस प्रकार का भास कराने का उद्योग करेगा कि मैं वास्तव में वही हूँ जिसका रूप मैंने धारण किया है। इसी लिये रूपक ऐसे प्रदर्शन को कहेंगे जिसमें अभिनय करने-वाला किसी के रूप, हाव-भाव, वेश-भूषा, बोलचाल आदि का ऐसा अच्छा अनुकरण करे कि उसका और वास्तविक व्यक्ति का भेद प्रत्यक्ष न हो सके। अब इस अर्थ में साधारणतः 'नाटक' शब्द का प्रयोग होता है। यह शब्द संस्कृत की 'नट'*

दृश्य काव्य

---

* नाट्यमिति च 'नट अवस्यंदने' इति नटेः किंचिच्चलनार्थत्वात्सात्त्विक-बाहुल्यम्। अतएव तत्कारिषु नटव्यपदेशः।

—दशरूपक पर धनिक की टीका

धातु से बना है जिसका अर्थ सात्त्विक भावों का प्रदर्शन है। भिन्न भिन्न देशों में इस कला का विकास भिन्न भिन्न रूपों और समयों में हुआ है। परंतु एक बात जो सभी नाटकों में समान रूप से पाई जाती है वह यह है कि सभी नाटकों में पात्र नाट्य के द्वारा किसी न किसी व्यक्ति के व्यापारों का अनुकरण या उनकी नकल करते हैं।

मनुष्य स्वभाव से ही ऐसा जीव है जो सदा यह चाहता है कि मैं अपने भाव और विचार दूसरों पर प्रकट करूँ। वह उन्हें अपने

उत्पत्ति

अंतःकरण में छिपा रखने में असमर्थ है। उसे बिना उन्हें दूसरों पर प्रकट किए चैन नहीं मिलता। अतएव अपने भावों और विचारों को दूसरों पर प्रकट करने की इच्छा मानव-प्रवृत्ति का एक अनिवार्य गुण है। मनुष्य अपने भावों और विचारों को इंगितों या वाणी द्वारा अथवा दोनों की सहायता से प्रकट करता है। भावों और विचारों को अभिव्यंजित करने की ये रीतियाँ वह मानव-समाज में मिलकर सीख लेता है। किसी उत्सव के समय वह इन्हीं भावों को नाच-गाकर प्रकट करता है। वाणी और इंगित के अतिरिक्त भावों और विचारों के अभि-व्यंजन का एक तीसरा प्रकार अनुकरण या नकल है। बाल्यावस्था से ही मनुष्य नकल करना सीखता है और उसमें सफल होने पर उसे आनंद मिलता है। यह नकल भी वाणी और इंगित द्वारा सब मनुष्यों को सुगमता से साध्य है। इसके अनंतर वेश-भूषा की नकल का अवसर आता है, और यह भी कष्टसाध्य नहीं है। इन साधनों के उपलब्ध हो जाने पर क्रमशः दूसरे व्यक्ति के स्थानापन्न बनने की चेष्टा एक साधारण सी बात है। पर इतने ही से नाटक का सूत्रपात नहीं हो जाता। जब तक नकल करने की प्रवृत्ति नाट्य का रूप धारण नहीं करती, तब तक रूपक का आविर्भाव नहीं होता, पर ज्यों ही नकल करने की यह प्रवृत्ति नाट्य का रूप धारण करती

है त्यों ही मानों रूपक का बीजारोपण होता है। बस यही नाट्य-कला का आरंभ है।

किसी का अनुकरण या नकल करने से रूपक की उत्पत्ति या सृष्टि तो अवश्य हो जाती है पर इतने से ही उसकी कर्त्तव्यता का अंत नहीं हो सकता। रूपक आगे चलकर साहित्य के अनुशासन या नियंत्रण में आ जाता है और तब उसे साहित्यिक रूप प्राप्त होता है। उस दशा में हम उसे नाट्य-साहित्य के अंतर्गत स्थान दे देते हैं। पर यह नाट्य-साहित्य सभी जातियों अथवा देशों में नहीं पाया जाता। ऐसी जातियाँ भी हैं जिनमें रूपकों का प्रचार तो यथेष्ट है, पर जिनमें नाट्य-साहित्य का अभाव है। अनेक असभ्य जातियाँ ऐसी हैं जिनमें किसी न किसी रूप में रूपक तो वर्त्तमान है, पर जिन्होंने अपने साहित्य का विकास नहीं किया। जिन जातियों ने नाट्य को शास्त्रीय अथवा साहित्यिक रूप दिया है, उनकी तो कोई बात ही नहीं, पर जिन जातियों के रूपकों को साहित्यिक रूप नहीं प्राप्त हुआ है, उन जातियों ने भी रूपक के संगीत, नृत्य, भाव-भंगी, वेश-भूषा आदि भिन्न भिन्न आवश्यक और उपयोगी अंगों में रुचि या आवश्यकता आदि के अनुसार थोड़ा बहुत परिवर्त्तन और परिवर्धन करके उनके अनेक भेदों और उपभेदों की सृष्टि कर डाली है। परंतु रूपक वास्तव में उसी समय साहित्य के अंतर्गत आ जाता है जब उसमें किसी के अनुकरण या नकल के साथ ही साथ कथोपकथन या वार्त्तालाप भी हो जाता है। रूपक में संगीत या वेश-भूषा आदि का स्थान इसके पीछे आता है। साथ ही हमें इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि रूपक की सृष्टि संगीत और नृत्य के कारण तथा इन्हीं दोनों से हुई है।

रूपक की सृष्टि संगीत और नृत्य से तो अवश्य हुई है, पर उसके विकास के मुख्य साधन महाकाव्य और गीति-काव्य हैं। इस

विषय पर विचार करने से पहले हम संक्षेप में यह बतला देना चाहते हैं कि रूपक का आरंभ कैसे अवसरों पर और किन किन उद्देश्यों से हुआ था। प्राचीन काल में मानव-समाज अपने विकास की अत्यंत आरंभिक अवस्था में था। लोग ऋतुओं आदि के परिवर्त्तन को देखकर मन ही मन बहुत भयभीत होते थे और उनके परिणाम तथा प्रभाव से बचने के लिये देवताओं के उद्देश्य से अनेक प्रकार के उत्सव करके नाचते गाते थे। जिस समय भीषण वर्षा होती थी अथवा कड़ाके का जाड़ा पड़ता था उस समय उनके प्राण बड़े संकट में पड़ जाते थे और वे उस संकट से बचने के लिये अपने अपने देवताओं का आराधन करते थे। बस यहीं से रूपक के मूल गीतों और गीति-काव्यों का आरंभ हुआ, जिसने आगे चलकर रूपक की सृष्टि और उसका विकास किया। जब इस प्रकार बहुत दिनों तक आराधना करने और नाचने-गाने पर भी वे उन ऋतुओं तथा दूसरी नैसर्गिक घटनाओं में किसी प्रकार की बाधा न डाल सके, तब उन्होंने स्वभावतः समझ लिया कि इन सब बातों का संबंध किसी और गूढ़ कारण अथवा किसी और बड़ी शक्ति के साथ है। वही शक्ति किसी निश्चित नियम के अनुसार ऋतुओं आदि में परिवर्त्तन करती तथा दूसरी घटनाएँ संघटित करती है। तब उन लोगों ने अपने नृत्य, गीत आदि का उद्देश्य बदल दिया और वे अपने बाल-बच्चों की प्राण-रक्षा या धन-धान्य आदि की वृद्धि के उद्देश्य से अनेक प्रकार के धार्मिक उत्सव करने लगे। पर इन धार्मिक उत्सवों में भी नृत्य, गीत आदि की ही प्रधानता रहती थी। यही कारण है कि संसार की प्रायः सब प्राचीन जातियों में धन-धान्य की वृद्धि के लिये अनेक प्रकार के उत्सव आदि प्रचलित थे। यूनान के एल्यूसिस नामक स्थान में सायनतुला के समय एक बहुत बड़ा उत्सव हुआ करता था,

नाटकों का आरंभ

जिसकी मुख्य पात्री डेमिटर देवी की पुजारिन हुआ करती थी। इसी प्रकार चीन के मंदिरों में भी फसल हो जाने के अनंतर धार्मिक उत्सव हुआ करते थे जिनमें अच्छी फसल होने के उपलक्ष में देवताओं का गुणानुवाद होता था और साथ ही रूपक आदि भी होते थे। जिस देवता के मंदिर में उत्सव हुआ करता था, प्रायः उसी देवता के जीवन की घटनाओं को लेकर रूपक भी खेले जाते थे। भिन्न भिन्न स्थानों के देवता भिन्न भिन्न होते थे। उन देवताओं में से कुछ तो कल्पित होते थे और कुछ ऐसे वीर-पूर्वज होते थे, जिनमें किसी देवता की कल्पना कर ली जाती थी। ऐसी दशा में उन देवताओं के जीवन में से रूपक की यथेष्ट सामग्री निकल आती थी। इसी प्रकार के उत्सव और रूपक बरमा और जापान आदि में भी हुआ करते थे। फसल हो चुकने पर तो ऐसे उत्सव और रूपक होते ही थे, पर कहीं कहीं फसल बोने के समय भी इसी प्रकार के उत्सव और रूपक हुआ करते थे। इन उत्सवों पर देवताओं से इस बात की प्रार्थना की जाती थी कि खेतों में यथेष्ट धन-धान्य उत्पन्न हो। भारत में तो अब तक फसलों के संबंध में अनेक प्रकार के पूजन और उत्सव आदि प्रचलित हैं, जिनमें से होली का त्योहार मुख्य है। यह त्योहार गेहूँ आदि की फसल हो जाने पर होता है और उसी से संबंध रखता है। अब भी होली के अवसर पर इस देश में नृत्य, गीत आदि के साथ साथ स्वाँग निकलते हैं, जो वास्तव में रूपक के पूर्व रूप ही हैं। यद्यपि आजकल यह उत्सव अश्लीलता के संयोग से बिलकुल भ्रष्ट हो गया है, पर इससे हमारे कथन की पुष्टि में कोई बाधा नहीं पड़ती।

प्राचीन काल में जिस प्रकार धन-धान्य आदि के लिये देवताओं का पूजन होता था, उसी प्रकार पूर्वजों और बड़े बड़े ऐतिहासिक पुरुषों का भी पूजन होता था। उन पूर्वजों और ऐतिहासिक पुरुषों के

उपलक्ष में बड़े बड़े उत्सव भी होते थे, जिनमें इन उत्सवों में धन-धान्य की वृद्धि के लिये उनसे प्रार्थना की जाती थी, अथवा उसी उद्देश्य से उनका गुणानुवाद किया जाता था; और जब नया धान्य तैयार हो जाता था तब, अपनी कृतज्ञता प्रकट करने के लिये, उनको उसका भोग लगाया जाता था।

वीर-पूजा

और और देशों में तो पूर्वजों की केवल मूर्त्तियाँ बनाकर ही मंदिरों में स्थापित कर दी जाती थीं, पर मिस्र और पेरू में स्वयं मृत शरीर ही रक्षित किए जाते थे। प्राय: उन्हीं पूर्वजों का पूजन करके लोग उनके जीवन की घटनाओं का नाट्य किया करते थे और इस प्रकार मनोविनोद के साथ ही साथ उनकी स्मृति भी बनाए रखते थे। बहुधा ऐसे उत्सव बड़े बड़े वीरों और योद्धाओं के ही उपलक्ष तथा संबंध में हुआ करते थे। यह वीर-पूजा सभी प्राचीन जातियों में प्रचलित थी और अब भी अनेक जातियों में प्रचलित है। हमारे देश में यह कृष्णलीला और रामलीला आदि के रूप में वर्त्तमान है। ये लीलाएँ साधारण स्वाँगों का परिवर्त्तित और विकसित रूप हैं और इनमें भी रूपकों की सृष्टि का रहस्य छिपा हुआ है।

संसार की भिन्न भिन्न जातियों के नाट्य-साहित्य का प्राचीन इतिहास भी यही बतलाता है कि नाट्य-साहित्य की उत्पत्ति वास्तव में नृत्य से, और उसके साथ ही साथ संगीत से भी, हुई है। मनुष्य जब बहुत प्रसन्न होता है तब नाचने और गाने लगता है। जब हम किसी की अत्यंत अधिक प्रसन्नता का परिचय कराना चाहते हैं, तब हम कहते हैं कि 'वह मारे खुशी के नाच उठा'। दूसरों के आदर-सत्कार और प्रसन्नता के लिये भी उसके सामने नाचने और गाने की प्रथा बहुत पुरानी है। हमारे यहाँ पार्वती के सामने शिव का और ब्रज की गोपियों के साथ कृष्ण का नृत्य बहुत प्रसिद्ध है। कहते हैं कि हजरत दाऊद भी ईसा मसीह के सामने नाचे थे।

किसी माननीय और प्रतिष्ठित अभ्यागत के आदर के लिये नृत्य-गीत का आयोजन करने की प्रथा अब तक सभ्य और असभ्य सभी जातियों में प्रचलित है। प्राचीन काल में जब योद्धा लोग विजय प्राप्त करके लौटते थे, तब वे स्वयं भी नाचते-गाते थे और उनका सत्कार करने के लिये नगर-निवासी भी उनके सामने आकर नाचते-गाते थे। कभी कभी ऐसा भी होता था कि युद्ध-क्षेत्र में वीर और योद्धा लोग जो कृत्य करके आते थे उन कृत्यों का नाट्य भी नृत्य गीत के उन उत्सवों के समय हुआ करता था। मृतकों, और विशेषत: वीर मृतकों, के उद्देश्य से नाचने की प्रथा बरमा, चीन, जापान आदि अनेक देशों में प्रचलित थी। जो योद्धा देश, जाति अथवा धर्म के लिये अनेक प्रकार के कष्ट सहकर प्राण देते थे, उनकी स्मृति बनाए रखने का उन दिनों यही एक साधन माना जाता था। उक्त देशों के नाटकों का आरंभ इन्हीं नृत्यों से हुआ है; क्योंकि उन देशों के निवासी उस नृत्य के समय भांति भाँति के चेहरे लगाकर स्वाँग बनाते थे और उन वीर मृतकों के वीरतापूर्ण कृत्यों का नाट्य करते थे। उन नृत्यों में कहीं कहीं, जैसे जापान और जावा आदि देशों में, कुछ कथोपकथन भी होते थे, जिनसे उनको एक प्रकार से रूपक का रूप प्राप्त हो जाता था। जापान में तो आज तक इस प्रकार के नृत्य प्रचलित हैं। आजकल भी जापान में जो नृत्य होता है वह किसी न किसी ऐतिहासिक घटना अथवा कथानक से अवश्य संबंध रखता है। ऐसे नृत्य प्रायः बड़े बड़े देवमंदिरों में हुआ करते हैं, जिनमें उन मंदिरों के पुजारी भी सम्मिलित होकर अभिनय करते हैं। अभिनय के समय पात्र चेहरे लगाकर स्वाँग भी बनाया करते हैं। तात्पर्य यह कि जापान तथा दूसरे अनेक देशों के रूपकों की सृष्टि इसी प्रकार के नृत्यों से हुई है। जापानी भाषा में ऐसे रूपकों को 'नो' कहते हैं, जिसका अर्थ है

करुणापूर्ण नाटक। दक्षिण अमेरिका के पेरू, बोलिविया और ब्रेजील आदि देशों में भी अब तक इस प्रकार के नृत्य होते हैं, जिनमें पात्र चेहरे लगाकर मृत पुरुषों का नाट्य करते हैं। उनके कथोपकथन भी उन्हीं मृत आत्माओं की जीवन-संबंधी घटनाओं से संबंध रखते हैं। एलास्का प्रदेश के जंगली एस्किमो भी प्रति वर्ष इसी प्रकार के नृत्य और रूपक करते हैं, जिनमें पात्रों को पशुओं आदि के चेहरे लगाने पड़ते हैं। ये नृत्य इस उद्देश्य से होते हैं कि मृतकों की आत्माएँ प्रसन्न हों और लोगों को वर्ष भर ख़ूब शिकार मिला करे। पश्चिमी अफ्रीका के बेल्जियन कांगो आदि कुछ प्रदेशों की जंगली जातियों में तो इस प्रकार के नृत्य और रूपक इतने अधिक प्रचलित हैं कि उनके धर्माचार्यों का व्यवसाय नाट्य ही रह गया है। नृत्य ही नाटक का मूल है, इस बात का एक अच्छा प्रमाण कंबोडिया की राजकीय रंगशाला भी है, जिसका नाम 'रंग-रम' है। उस देश की भाषा में इस शब्द का अर्थ नृत्य-शाला होता है। यहाँ हम प्रसंगवश यह भी बतला देना चाहते हैं कि कंबोडिया की रंगशालाओं में रामायण का भी नाटक होता है। कंबोडिया में रामायण का बहुत अधिक आदर है। वहाँ के अन्यान्य नाटकों में तो अभिनय और नाचने-गाने का सारा काम स्त्रियाँ ही करती हैं, पर रामायण के नाटक में केवल पुरुष ही भाग लेते हैं; उसमें कोई स्त्री नहीं सम्मिलित होने पाती।

यह तो हुई नाट्य की ठेठ उत्पत्ति और विकास की बात। अब हम संक्षेप में यह बतलाना चाहते हैं कि संसार के भिन्न भिन्न देशों में उनके नाट्य-साहित्य की सृष्टि कब और कैसे हुई। यह तो एक स्वतःसिद्ध बात है कि नाट्य की उत्पत्ति गीति-काव्यों और कथोपकथन से हुई। अब यदि हमें यह ज्ञात हो जाय कि इन

भारतीय नाट्य-साहित्य की सृष्टि

गीति-काव्यों और कथोपकथनों का आरंभ सबसे पहले किस देश में हुआ, तो हमें अनायास ही प्रमाण मिल जायगा कि संसार के किस देश में सबसे पहले नाट्य-कला की सृष्टि हुई। इस दृष्टि से देखते हुए केवल हमें ही नहीं वरन् संसार के अनेक बड़े बड़े विद्वानों को भी विवश होकर यही मानना पड़ता है कि जहाँ भारत-वर्ष और अनेक बातों में आविष्कर्त्ता और पथ-प्रदर्शक था, वहाँ रूपकों, गीति-काव्यों और कथोपकथन संबंधी साहित्य उत्पन्न करने में भी वह प्रथम और अग्रगामी था। भारतीयों का परंपरानुगत विश्वास है कि ब्रह्मा ने वेदों से सार लेकर नाटक की सृष्टि की थी। वास्तविक बात यह है कि नाटक के मूल-तत्त्व, जो समय पाकर नाटक के रूप में विकसित हो जाते हैं, वेदों में स्पष्ट रूप से पाए जाते हैं। हमारे वेद संसार का सबसे प्राचीन साहित्य हैं। उनमें भी सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण तथा प्राचीन ऋग्वेद है। सारा ऋग्वेद ऐसे मंत्रों से भरा पड़ा है जिनमें इंद्र, सूर्य, अग्नि, उषस्, मरुत् आदि देवताओं से प्रार्थना की गई है। इन प्रार्थना-मंत्रों की गणना साहित्य की दृष्टि से गीति-काव्यों में की जाती है। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद में विश्वामित्र, वशिष्ठ, सुदास आदि अनेक ऋषियों और राजाओं के यशोगान भी हैं जो महाकाव्यों के मूल हैं और जिनमें महाकाव्यों की सामग्री भरी है। साथ ही ऋग्वेद में सरमा और पणिस, यम और यमी, पुरूरवा और उर्वशी आदि के गीतों में कुछ कथोपकथन या संवाद भी हैं। इस प्रकार रूपक के तीनों मूल अर्थात् गीति-काव्य, आख्यान और कथोपकथन या संवाद संसार की सबसे प्राचीन पुस्तक ऋग्वेद में वर्त्तमान हैं। इसी आधार पर मेकडानल और कीथ आदि विद्वानों ने यह स्थिर किया है कि संसार में सबसे पहले रूपकों का आरंभ भारतवर्ष में ही हुआ। मैक्समूलर, पिशल, लेवी आदि का भी

यही मत है। पर रिजवे ने नाटकों और नाटकीय नृत्यों के संबंध में जो पुस्तक लिखी है, उसमें उसने इस मत का केवल इसी आधार पर खंडन किया है कि नृत्य, गीत और संवाद के रहते हुए भी जब तक किसी के कृत्यों का नाट्य या उनकी नकल न हो, तब तक यथार्थ रूपक की सृष्टि नहीं होती। रिजवे का यह कथन युक्तियुक्त है, पर उसने केवल पक्षपातवश ही यह सोचने का कष्ट नहीं उठाया कि जो लोग स्वयं उसी के कथनानुसार नृत्य और गीत आदि के बड़े प्रेमी और प्रधान आविष्कर्त्ता थे और जिन्होंने कथोपकथन या संवाद तक को अपने साहित्य में स्थान दिया था वे केवल नाट्य को किस प्रकार छोड़ सकते थे। जहाँ तक संभव था, वहाँ तक खींच-तान करके रिजवे ने अपनी ओर से यह सिद्ध करना चाहा कि भारत में रूपकों की सृष्टि बहुत पीछे हुई। पर फिर भी उसने भारतीय नाटकों की सृष्टि का कोई समय निर्धारित नहीं किया है; और अंत में एक प्रकार से यह बात भी मान ली है कि पाणिनि और पतंजलि के समय तक भारत में रूपकों का यथेष्ट विकास हो चुका था। अब विचारवान् पाठक स्वयं ही सोच सकते हैं कि नाट्य सरीखे गूढ़ और गहन विषय का पूर्ण विकास होने में, सो भी पाणिनि काल से पहले, कितना समय लगा होगा और जिस नाटक का पाणिनि के समय में पूर्ण विकास हो चुका था, भारत में उसका आरंभ या बीजारोपण कितने दिनों पहले हुआ होगा। स्वयं रिजवे ने ही अपनी पुस्तक में एक स्थान पर लिखा है कि भारत की अनेक बातों के संबंध में लिखित प्रमाण नहीं मिलते। ऐसी दशा में ऋग्वेद के अनेक मंत्रों, संवादों और आख्यानों तथा दूसरे अनेक प्रमाणों से, जिनका वर्णन हम आगे चलकर करेंगे, यह माना जा सकता है कि भारत में नाटक का सूत्रपात ऋग्वेद-काल के कुछ ही पीछे, पर लगभग वैदिक काल में ही, हो गया था।

जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, भारतवर्ष के रूपकों का सर्वथा पूर्व और प्रारंभिक रूप ऋग्वेद में प्रार्थना-मंत्रों और संवादों के रूप में मिलता है। यह तो निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि भारत में नाट्य ने अपना पूर्ण रूप किस समय धारण किया, पर इसमें कोई संदेह नहीं कि पाणिनि से कई सहस्र वर्ष पहले इस देश में रूपकों का बहुत अधिक प्रचार हो चुका था और अच्छे अच्छे नाटक भी बन चुके थे; क्योंकि पाणिनि ने अपने व्याकरण में नाट्य-शास्त्र के शिलालिन् और कृशाश्व इन दो आचार्यों के नाम दिए हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि पाणिनि के समय तक इस देश में नाट्य-कला इतनी उन्नत अवस्था को पहुँच चुकी थी कि उसके लक्षण-ग्रंथ तक बन चुके थे। नाट्य-कला की सर्वथा आदिम अवस्था में अन्यान्य देशों की भाँति इस देश के नट भी केवल नाचते और गाते ही रहे होंगे, परंतु शिलालिन् और कृशाश्व के समय में नाटक अपनी पूर्ण उन्नतावस्था को पहुँच चुके थे; अर्थात् उस समय तक इस देश में नाचने और गाने के अतिरिक्त नाटकों में संवाद, भाव-भंगी और वेश-भूषा आदि का भी पूर्ण रूप से समावेश हो चुका था और सर्वांगपूर्ण रूपक होने लग गए थे। पाणिनि के सूत्रों की व्याख्या करते हुए पतजंलि अपने महाभाष्य में लिखते हैं कि रंग-शालाओं में नाटक होते थे और दर्शक लोग उन्हें देखने के लिये जाया करते थे। उन दिनों कंस-वध और बलि-बंध आदि तक के नाटक होने लग गए थे। इससे सिद्ध होता है कि ईसा से सैकड़ों हजारों वर्ष पहले इस देश में नाटकों का पूर्ण प्रचार हो चुका था। हरिवंश पुराण महाभारत के थोड़े ही दिनों पीछे का बना है। उसमें लिखा है कि वज्रनाभ के नगर में कौबेररंभाभिसार नाटक खेला गया था, जिसकी रंगभूमि में कैलास पर्वत का दृश्य दिखाया गया था। महावीर स्वामी के लगभग दो सवा दो सौ वर्ष पीछे

भद्रबाहु स्वामी हुए थे, जिन्होंने कल्पसूत्र के अपने विवेचन में जड़-वृत्ति साधुओं का उल्लेख करते हुए एक साधु की कथा दी है। एक बार एक साधु कहीं से बहुत देर करके आया। गुरु के पूछने पर उसने कहा कि मार्ग में नटों का नाटक हो रहा था; वही देखने के लिये मैं ठहर गया था। गुरु ने कहा कि साधुओं को नटों के नाटक आदि नहीं देखने चाहिएँ। कुछ दिनों पीछे उस साधु को एक बार फिर अपने आश्रम को आने में विलंब हो गया। इस बार गुरु के पूछने पर उसने कहा कि एक स्थान पर नटियों का नाटक हो रहा था; मैं वही देखने लग गया था। गुरु ने कहा कि तुम बड़े जड़बुद्धि हो। तुम्हें इतनी भी समझ नहीं कि जिसे नटों का नाटक देखने के लिये निषेध किया जाय, उसके लिये नटियों का नाटक देखना भी निषिद्ध है। इन सब बातों के उल्लेख से हमारा यही तात्पर्य है कि आज से लगभग ढाई-तीन हज़ार वर्ष पहले भी इस देश में ऐसे ऐसे नाटक होते थे, जिन्हें सर्वसाधारण बहुत सहज में और प्रायः देखा करते थे। कौबेररंभाभिसार सरीखे नाटकों का अभिनय करना जिनमें कैलास के दृश्य दिखाए जाते हों और ऐसी रंगशालाएँ बनाना जिनमें राजा रथ पर आते और आकाश-मार्ग से जाते हों (दे० विक्रमोर्वशीय) सहज नहीं है। नाट्य-कला की उन्नति की इस सीमा तक पहुँचने में सैकड़ों हज़ारों वर्ष लगे होंगे। कौबेररंभाभिसार के संबंध में हरिवंश पुराण में लिखा है कि उसमें प्रद्युम्न ने नल-कूबर का, शूर ने रावण का, सांब ने विदूषक का, गद ने पारिपार्श्व का और मनोवती ने रंभा का रूप धारण किया था और सारे नाटक का अभिनय इतनी उत्तमता के साथ किया गया था कि उसे देखकर बज्रनाभ आदि दानव बहुत ही प्रसन्न हुए थे। यदि इस कथा को सर्वथा सत्य मान लिया जाय, तो यही सिद्ध होता है

कि श्रीकृष्ण के समय में भी भारत में अच्छे अच्छे नाटकों का अभिनय होता था।

भारतवर्ष में नाट्य-शास्त्र के प्रधान आचार्य भरत मुनि माने जाते हैं। उनका नाट्य-शास्त्र-संबंधी श्लोकबद्ध ग्रंथ इस समय हमें उपलब्ध है। यद्यपि उन्होंने अपने ग्रंथ में शिलालिन् और कृशाश्व का उल्लेख नहीं किया है, तथापि उस ग्रंथ से इतना अवश्य सूचित होता है कि उनसे भी पहले नाट्य-शास्त्र-संबंधी अनेक ग्रंथ लिखे जा चुके थे। भरत ने अपने ग्रंथ को जितना सर्वांगपूर्ण बनाया है और उसमें जितनी सूक्ष्मातिसूक्ष्म बातों का विवेचन किया है, उससे यही सिद्ध होता है कि भरत से पहले इस देश में अनेक रूपक लिखे जा चुके थे और साथ ही नाट्य-शास्त्र के कुछ लक्षण-ग्रंथ भी बन चुके थे। भरत ने उन्हीं नाटकों और लक्षण-ग्रंथों का भली भाँति अध्ययन करके और उनके गुण-दोष का विवेचन करके अपना ग्रंथ बनाया था। भरत ने नाट्य-शास्त्र के प्रथम अध्याय में नाट्य के विषय, उसके उद्देश्य और उसकी सामाजिक उपयोगिता का विशद विवेचन किया है। वे लिखते हैं—

"इस संपूर्ण संसार (त्रिलोक) के भावों (अवस्थाओं) का अनुकीर्त्तन ही नाट्य है ; १—७२।"

"अनेक भावों से युक्त, अनेक अवस्थाओं से परिपूर्ण तथा संसार के चरित्रों के अनुकरणवाला यह नाट्य मैंने उत्पन्न किया है ; १—७८।"

"यह उत्तम, मध्यम तथा अधम मनुष्यों के कृत्यों का समुदाय है, हितकारी उपदेशों को देनेवाला है और धैर्य, क्रीड़ा और सुख आदि उत्पन्न करनेवाला है ; १—७६।"

"दुःखित, असमर्थ, शोकार्त्त तथा तपस्वियों को भी समय पर शांति प्रदान करनेवाला यह नाट्य मैंने बनाया है ; १—८०।"

"यह नाट्य धर्म, यश, आयु की वृद्धि करनेवाला, लाभ करनेवाला, बुद्धि बढ़ानेवाला और संसार को उपदेश देनेवाला होगा ; १—८१।"

"न कोई ऐसा वेद है, न शिल्प है, न विद्या है, न कला है, न योग है, न कर्म है जो इस नाट्य में नहीं दिखाया जा सकता ; १—८२ ।"

"यह नाट्य वेद, विद्या, इतिहास तथा अर्थशास्त्र का स्मरण करानेवाला तथा संसार में विनोद करनेवाला होगा ; १—८६ ।"

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भारतीय नाट्य का आदर्श केवल जनता की चित्तवृत्ति को आनंदित करना तथा उनकी इंद्रिय-लिप्सा को उत्तेजित करना नहीं वरन् धर्म, आयु और यश की वृद्धि करना है। भारतीय नाट्य-शास्त्र तथा नाट्य-साहित्य की यही विशेषता है।

अब हम रूपकों के संबंध में एक और बात का विवेचन करना चाहते हैं जिससे रूपकों की प्राचीनता और उनके प्रारंभिक रूप पर विशेष प्रकाश पड़ने की संभावना है। पाठकों में से बहुतों ने कठपुतली का नाच देखा होगा। संस्कृत में कठपुतली के लिये पुत्रिका, पुत्तली और पुत्तलिका आदि शब्दों का प्रयोग होता है, जिनका अर्थ होता है—छोटी बालिका। लैटिन भाषा में कठपुतली के लिये 'प्यूपा' अथवा 'प्यूपुल' आदि जो शब्द हैं, उनका भी यही अर्थ है। यह कठपुतली का नाच हमारे यहाँ बहुत प्राचीन काल से प्रचलित है। प्राचीन भारत में ऊन, काठ, सींग और हाथी-दाँत आदि की बहुत अच्छी पुतलियाँ बनती थीं। कहते हैं, पार्वतीजी ने एक बहुत सुंदर पुतली बनाई थी। उस पुतली को वे शिवजी से छिपाना चाहती थीं, इसलिये उन्होंने उसे मलय पर्वत पर ले जाकर रखा था। पर उसे देखने और उसका शृंगार करने के लिये वे नित्य मलय पर्वत पर जाती थीं, जिससे शिवजी को कुछ संदेह हुआ। एक दिन शिवजी भी छिपकर पार्वती के पीछे पीछे मलय पर्वत पर जा पहुँचे। वहाँ उन्होंने पार्वतीजी की वह पुतली देखी। वह

कठपुतली का नाच

पुतली सजीव न होने पर भी सर्वथा सजीव जान पड़ती थी। अतः शिवजी ने प्रसन्न होकर उस पुतली को सजीव कर दिया था। महाभारत में भी कठपुतलियों का उल्लेख है। जिस समय अर्जुन कौरवों से युद्ध करने के लिये जा रहे थे, उस समय उत्तरा ने उनसे कहा था कि मेरे लिये अच्छी अच्छी पुतलियाँ या गुड़ियाँ लेते आना। कथा-सरित्सागर में, एक स्थान पर, लिखा है कि असुर मय की कन्या सोमप्रभा ने अपने पिता की बनाई हुई बहुत सी कठपुतलियाँ रानी कलिंगसेना को दी थीं। उनमें से एक कठ-पुतली ऐसी थी जो खूँटी दबाते ही हवा में उड़ने लगती थी और कुछ दूर पर रखी हुई छोटी-मोटी चीजें तक उठा लाती थी। उनमें से एक पुतली पानी भरती थी, एक नाचती थी और एक बातचीत करती थी। उन पुतलियों को देखकर कलिंगसेना इतनी मोहित हो गई थी कि वह दिन-रात उन्हीं के साथ खेला करती थी और खाना-पीना तक छोड़ बैठी थी। यह तो सभी लोग जानते हैं कि कथा-सरित्सागर का मूल गुणाढ्य- कृत बड्डुकहा (बृहत्कथा) है, जो बहुत प्राचीन काल में पैशाची भाषा में लिखी गई थी; पर यह बृहत्कथा अब कहीं नहीं मिलती। हमारे कहने का तात्पर्य केवल यही है कि गुणाढ्य के समय में भी भारत में ऐसी अच्छी अच्छी कठपुतलियाँ बनती थीं जो अनेक प्रकार के कठिन कार्य करने के अतिरिक्त मनुष्यों की भाँति बातचीत तक करती थीं। ये कठपुत-लियाँ कोरी कवि-कल्पना कदापि नहीं हो सकतीं। कथाकोष में लिखा है कि राजा सुंदर ने अपने पुत्र अमरचंद्र के विवाह में कठ-पुतलियों का नाच कराया था। इन सब बातों से सिद्ध होता है कि बहुत प्राचीन काल में ही भारत में कठपुतलियों का नाच बहुत उन्नत दशा को पहुँच चुका था। राजशेखर ने दसवीं शताब्दी के आरंभ में जो बाल-रामायण नाटक लिखा था, उसके पाँचवें अंक

में कठपुतलियों का उल्लेख है। उसमें लिखा है कि असुर मय के प्रधान शिष्य विशारद ने दो कठपुतलियाँ बनाई थीं, जिनमें से एक सीता की और दूसरी सिंदूरिका की प्रतिकृति थी। ये दोनों कठपुतलियाँ संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाएँ बहुत अच्छी तरह बोल सकती थीं। इन दोनों का पारस्परिक वार्त्तालाप इतना स्पष्ट और सुंदर था कि रावण ने इन कठपुतलियों को ही सीता और सिंदूरिका समझ लिया था। उसे अपनी भूल उस समय ज्ञात हुई, जब उसने सीता की प्रतिकृति को गले से लगाया। राजशेखर के इस उल्लेख से कम से कम इतना तो अवश्य सिद्ध होता है कि दसवीं शताब्दी में भारत की रंगशालाओं में साधारण रूपक के अतिरिक्त कठपुतलियों तक का प्रवेश कराया जाता था।

संस्कृत के सभी और हिंदी के भी प्रायः अनेक नाटकों में पहले सूत्रधार का प्रवेश होता है। यह सूत्रधार मानों रंगशाला का व्यवस्थापक और स्वामी होता है। यह सबसे पहले रंगशाला में आकर कोई प्रर्थना-गीत गाता है और तब किसी न किसी रूप में दर्शकों को नाटक के नाम, कर्त्ता और विषय आदि का परिचय कराता है। यह नाटक का एक प्रकार का परिचय और प्राक्कथन होता है। प्राचीन काल में यह परिचय बहुत बड़ा होता था; पर ज्यों ज्यों नाट्यकला में उन्नति होती गई और रूपक की प्रधानता होती गई त्यों त्यों सूत्रधार का यह परिचय कम होता गया। बहुत प्राचीन नाटकों में सूत्रधार के उपरांत रंगमंच पर एक और व्यक्ति का प्रवेश होता था जो सर्वथा सूत्रधार के ही वेश में रहता था। ऐसे नाटकों में सूत्रधार केवल मंगलाचरण करके और कुछ गीत गाकर ही चला जाता था, और नाटक के नाम, कर्त्ता तथा विषय आदि का परिचय यह स्थापक दिया करता था। धीरे धीरे नाटक से इस पुराने स्थापक का लोप हो गया और उसका

सूत्रधार और स्थापक

काम भी केवल सूत्रधार ही करने लग गया। नाटकों के ये सूत्र-धार और स्थापक शब्द भी हमारे नाटकों की प्राचीनता और उत्पत्ति से बहुत कुछ संबंध रखते हैं। जान पड़ता है कि भारतवर्ष में सबसे पहले कठपुतलियों का नाच आरंभ हुआ था। उन पुत-लियों को रंगमंच पर यथास्थान रखने या सजानेवाला स्थापक कहलाता था; और जो व्यक्ति उन कठपुतलियों के धागे हाथ में पकड़कर उनको नचाता था वह सूत्रधार कहलाता था। पीछे से इन्हीं सूत्रधार और स्थापक ने मिलकर ऐसी योजना की कि कठ-पुतलियों के स्थान पर नटों को रखा और नाटक के नाच-गाने तथा संवाद आदि का काम उन नटों से लिया जाने लगा। परंतु सूत्रधार और स्थापक वही कठपुतलियों के नाचवाले थे। आगे चलकर जब नाटकों और रंगशालाओं की यथेष्ट उन्नति हुई तब रंगमंच पर सजीव नटों के आ जाने के कारण स्थापक की कोई आवश्यकता न रह गई और केवल सूत्रधार ही रह गया, जो नाटक और रंगशाला का प्रधान व्यवस्थापक था और जिसका रहना परम आवश्यक तथा अनिवार्य था। पीछे से कठपुतलियों के स्थान पर नाचने-गानेवाले रखे गए थे। कठपुतलियों के नाच और रूपक में कितना अधिक संबंध है इसका प्रमाण इस बात से भी मिल सकता है कि आजकल भी चीन में नाटक से पहले कठपुतलियों का नाच होता है।

छाया-नाटक

आगे चलकर हमारे यहाँ के नाटकों ने एक और उन्नति की थी। हमारे यहाँ छाया-नाटकों का भी प्रचार हुआ था। वे छाया-नाटक संभवतः आजकल के सिनेमा के मानों मूल रूप थे। उनमें चमड़े की कठपुतलियाँ बनाकर प्रकाश के आगे साधारण कठपुतलियों की तरह नचाते थे और उनकी छाया आगे पड़े हुए परदे पर पड़ती थी। दर्शक लोग परदे पर पड़नेवाली उसी छाया के रूप में नाटक देखते थे। इस

प्रकार छोटी छोटी पुतलियों की सहायता से परदे पर सजीव मनुष्यों की आकृतियाँ दिखाई जाती थीं। ऐसे छाया-नाटकों के लिये रूपक भी अलग बनते थे, जिनके मुख्य आधार प्रायः रामायण और महाभारत के आख्यान आदि हुआ करते थे। ऐसे नाटकों में सुभट-कृत दूतांगद, भवभूति-कृत महावीरचरित, राजशेखर-कृत बालरामायण और जयदेव-कृत प्रसन्नराघव मुख्य हैं। भारत में, विशेषतः दक्षिण भारत में, ऐसे नाटक सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी तक खेले जाते थे। जावा द्वीप में ऐसे छाया-नाटकों का प्रचार, बहुत दिनों पहले, भारत की देखा-देखी ही हुआ था। डाक्टर पिशल का तो यहाँ तक कहना है कि मध्य युग में युरोप में कठ-पुतलियों आदि का जो नाच हुआ करता था, वह भी भारत का ही अनुकरण था। उनका यह भी मत है कि जर्मन तथा अँगरेजी नाटकों में जो क्लाउन या मसखरे होते हैं, वे भी भारतीय नाटकों के विदूषकों के अनुकरण पर ही रखे गए हैं; क्योंकि विदूषकों की सबसे अधिक प्रधानता, और वह भी बहुत प्राचीन काल से, भारतीय नाटकों में ही पाई जाती है।

यों तो भारत में नाट्य-कला का प्रचार बहुत प्राचीन काल से है, जिसका कुछ उल्लेख ऊपर हो चुका है, पर अभी तक उसके प्राचीन इतिहास का कोई ठीक और क्रमबद्ध विवरण नहीं दिया जा सकता। उसका क्रमबद्ध इतिहास प्रायः प्रसिद्ध भरत मुनि के समय से ही मिलता है। पर यहाँ इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि भरत मुनि ने जो नाट्य-शास्त्र लिखा है, वह नाटक का लक्षण-ग्रंथ है और वह भी कई लक्षण-ग्रंथों के अनंतर लिखा गया है। यह तो स्पष्ट ही है कि नाटक-संबंधी लक्षण-ग्रंथ उसी समय लिखे गए होंगे, जब देश में नाटकों और नाट्य-कला का पूर्ण प्रचार हो चुका होगा; क्योंकि

भारतीय नाट्य-शास्त्र

अनेक नाटकों को रंगमंच पर देखे अथवा पढ़े विना न तो उनके गुण-दोषों का विवेचन हो सकता था और न उनके संबंध में लक्षण-ग्रंथ ही बन सकते थे। भरत को कालिदास तक ने आचार्य और माननीय माना है। अनेक प्रमाणों से यह बात सिद्ध हो चुकी है कि भरत का समय ईसा से कम से कम तीन चार सौ वर्ष पहले का तो अवश्य ही है, इससे और पहले चाहे जितना हो। कौटिल्य के अर्थ-शास्त्र में नाटकों और रंगशालाओं का जो वर्णन मिलता है उससे भी यही सिद्ध होता है कि उस समय इस देश में नाटकों का पूर्ण प्रचार था और बहुत से लोग नट का काम करते थे। अर्थ-शास्त्र का समय भी ईसा से कम से कम तीन सौ वर्ष पहले का है। प्रायः उसी समय के लगभग भरत मुनि ने नाट्य-शास्त्र की भी रचना की थी। नाट्य-शास्त्र के आरंभ में कहा गया है कि एक बार वैवस्वत मनु के दूसरे युग में लोग बहुत दुखित हुए। इसपर इंद्र तथा दूसरे देवताओं ने जाकर ब्रह्मा से प्रार्थना की कि आप मनोविनोद का कोई ऐसा साधन उत्पन्न कीजिए, जिससे शूद्रों तक का चित्त प्रसन्न हो सके। इसपर ब्रह्मा ने चारों वेदों को बुलाया और उन चारों की सहायता से नाट्य-शास्त्र रूपी पाँचवें वेद की रचना की। इस नए वेद के लिये ऋग्वेद से संवाद, सामवेद से गान, यजुर्वेद से नाट्य और अथर्ववेद से रस लिए गए थे। इस कथा का और चाहे कोई अर्थ हो या न हो, पर इतना अर्थ अवश्य है कि नाट्य-शास्त्र की चारों बातें चारों वेदों से ली गई हैं। साथ ही इससे यह भी सिद्ध होता है कि हमारे यहाँ के नाटक का ऋग्वेद के संवादों या आख्यानों के साथ भी कुछ न कुछ संबंध अवश्य है।

भरत-कृत नाट्य-शास्त्र के दूसरे अध्याय में यह बतलाया गया है कि रंग-शालाएँ, जिनको उन दिनों प्रेक्षागृह कहते थे, कितने प्रकार

की होती थीं और किस प्रकार बनाई जाती थीं। इसका विशेष वर्णन हम आगे चलकर करेंगे, पर यहाँ इस बात पर ध्यान दिला देना चाहते हैं कि प्राचीन समय में भारतवर्ष में रंगशालाएँ बनती थीं और उनके निर्माण के लिये नियम बन गए थे। इससे स्पष्ट है कि आज से ढाई हजार वर्ष पहले भी भारतवर्ष में नाट्य-शास्त्र की बहुत अधिक उन्नति हो चुकी थी।

भारतीय रंगशाला

अब हम संक्षेप में भरत मुनि के नाट्य-शास्त्र की प्राचीनता पर कुछ विचार करके यह विषय समाप्त करते हैं। ग्रंथ में कुछ प्राचीन सूत्र भी दिए गए हैं जिनके साथ भाष्य, कारिका, निघंटु और निरुक्त भी हैं। इससे सिद्ध होता है कि जिस समय इस श्लोकबद्ध ग्रंथ की रचना हुई थी उस समय तक उन प्राचीन सूत्रों पर भाष्य और कारिकाएँ आदि भी लिखी जा चुकी थीं। ग्रंथ में जिन अनेक जातियों के नाम दिए हैं वे सब जातियाँ बहुत ही प्राचीन हैं। उनमें से कुछ जातियाँ तो बुद्ध के जीवन-काल में वर्त्तमान थीं और कुछ का उल्लेख ब्राह्मण ग्रंथों तक में पाया जाता है। इसी प्रकार उसमें कुछ ऐसे देशों का भी उल्लेख है जिनके नाम ब्राह्मणों और कल्पसूत्रों तक में आए हैं। बहुत दिन हुए, सरगुजा रियासत के रामगढ़ में दो पहाड़ी गुफाओं का पता लगा था। उनमें से एक गुफा में एक प्रेक्षा-गृह बना है जो कई बातों में यूनानी नाट्य-शालाओं से मिलता है। उस प्रेक्षा-गृह में कुछ चित्रकारी भी है जो, बहुत दिनों की होने के कारण, बहुत कुछ मिट गई है; पर कई बातों में भरत के नाट्य-शास्त्र में बतलाई हुई चित्रकारी से वह मिलती है। प्रेक्षा-गृह के संबंध में पास की दूसरी गुफा में अशोक-लिपि में एक लेख भी खुदा हुआ है। पुरातत्त्ववेत्ताओं का मत

नाट्य-शास्त्र की प्राचीनता

है कि यह शिलालेख और गुफा ईसा से कम से कम तीन सौ वर्ष पहले की है। शिलालेख से पता चलता है कि वह गुफा सुतनुका नाम की किसी देवदासी ने नर्त्तकियों के लिये बनवाई थी। अनुमान किया जाता है कि उन दिनों जहाँ भारत में देशी ढंग के अनेक प्रेक्षा-गृह बनते थे वहाँ किसी नर्त्तकी ने यूनानी ढंग की नाट्य-शाला भी, एक नई चीज समझकर, बनवा ली होगी। पहली गुफा में तो नाटक आदि होते होंगे और दूसरी गुफा में नट और नर्त्तकियाँ आदि रहती होंगी। इसमें संदेह नहीं कि भारतीय ढंग के प्रेक्षा-गृहों के रहते हुए भी यूनानी ढंग की नाट्य-शाला तभी बनी होगी जब भारतीय ढंग के प्रेक्षा-गृहों की बहुत अधिकता हो गई होगी और लोगों की रुचि किसी नए ढंग के प्रेक्षा-गृह की ओर भी हुई होगी। जैसा कि हम आगे चलकर बतलावेंगे, यूनान में सबसे पहले ईसा से प्रायः छः सौ वर्ष पूर्व नाटकों का लिखा जाना आरंभ हुआ था। उस समय वहाँ दो तीन आदमी मिलकर गाड़ी पर सवार हो जाते थे और गाँव गाँव घूमकर लोगों को नाटक दिखाते फिरते थे। पर भारत में उसी समय के लगभग नाट्य-शास्त्र का इतना अधिक विकास हो चुका था कि नाट्य के संबंध में कई लक्षण-ग्रंथ बन गए थे, उसके संबंध में अनेक गूढ़ और जटिल नियमों की रचना हो चुकी थी और सैकड़ों-हजारों दर्शकों के बैठने योग्य अनेक नाट्य-शालाएँ बन चुकी थीं। कदाचित् अब इस बात के प्रमाण की और कोई आवश्यकता न रह गई होगी कि भारत में नाटक का आरंभ प्रायः और सभी देशों से पहले और सर्वथा स्वतंत्र रूप से हुआ था।

अब हम संक्षेप में भारतीय नाट्य-कला का कुछ इतिहास भी दे देना आवश्यक समझते हैं। मिस्रियों और यूनानियों की भाँति भारतीयों की नाट्य-कला का मूल भी धार्मिक ही है पर इसमें

औरों की अपेक्षा कुछ विशेषता तथा प्राचीनता है। यूनानी नाटकों का, और उनमें भी सबसे प्राचीन करुण नाटकों (Tragedies) का,

भारतीय नाट्य-कला का इतिहास

आरंभ वहाँ के महाकाव्यों और गीति-काव्यों से हुआ था। साहित्यिक इतिहास के अनुक्रम में पहले गद्य, तब गीति-काव्य और इसके पीछे महाकाव्य आते हैं। इससे सिद्ध होता है कि जिन नाटकों का आरंभ गीति-काव्यों और महाकाव्यों से हुआ हो उनकी अपेक्षा वे नाटक अधिक प्राचीन हैं जिनका मूल गद्य और गीति-काव्य में हो। हमारे यहाँ इस ढंग के प्राचीन नाटकों का अवशेष अब तक बंगाल की यात्राओं तथा ब्रज की रासलीलाओं के रूप में वर्त्तमान है। यद्यपि ठीक ठीक यह नहीं बतलाया जा सकता कि भारत में शुद्ध और व्यवस्थित रूप में नाटकों का आरंभ कब हुआ, तथापि अनेक प्रमाणों से यह अवश्य सिद्ध है कि ईसा से कम से हजार आठ सौ वर्ष पहले यहाँ नाटकों का यथेष्ट प्रचार था; और ईसा से चार-पाँच सौ वर्ष पहले यहाँ की नाट्य-कला इतनी उन्नत हो चुकी थी कि उसके संबंध में अनेक लक्षण-ग्रंथ भी बन गए थे। इस प्रकार हमारे यहाँ के नाटकों का क्रमबद्ध इतिहास उस समय से आरंभ होता है, जिस समय वे अपनी उन्नति के सर्वोच्च शिखर पर थे और जिसके उपरांत उनका ह्रास आरंभ हुआ था।

आज से कुछ ही दिनों पहले महाकवि कालिदास ही संस्कृत के आदि नाटककार माने जाते थे, पर अब इस बात के अनेक प्रमाण मिल चुके हैं कि कालिदास से चार पाँच सौ वर्ष पहले भी संस्कृत में अनेक अच्छे अच्छे नाटक बन चुके थे। पहले तो कालिदास के मालविकाग्निमित्र नाटक में ही उनसे पहले के भास और कविपुत्र आदि कई प्रसिद्ध नाटककारों का उल्लेख मिलता है; और तिस पर अब ट्रावन्कोर में भास के अनेक नाटक मिल भी गए हैं जिनमें

से कई प्रकाशित हो चुके हैं। इसके अतिरिक्त मध्य एशिया में भी बौद्धकालीन अनेक खंडित नाटकों की हस्तलिखित प्रतियाँ मिली हैं, जिनमें से एक कनिष्क के राजकवि अश्वघोष का बनाया हुआ है। इन सब नाटकों की रचना-शैली और भाषा आदि भी प्रायः वैसी ही है जैसी कि पीछे के और नाटकों की है। इससे सिद्ध होता है कि इन नाटकों के बनने से पहले भी इस देश में नाटक-रचना के संबंध में नियम आदि बन चुके थे और उनके लक्षण-ग्रंथ लिखे जा चुके थे। परंतु हमारे नाटकों के विकास का यह काल अभी तक अज्ञात काल ही माना जाता है। अतः इसे हम यहीं छोड़कर ज्ञात काल की कुछ बातें कहते हैं।

हमारे नाटकों के ज्ञात-काल का आरंभ महाकवि कालिदास से होता है और उनके समय से लेकर ईसवी दसवीं शताब्दी तक उसका आरंभिक काल माना जाता है। पर हमारी समझ में यह उसका आरंभिक काल नहीं, मध्य काल है। कालिदास का पहला नाटक मालविकाग्निमित्र है जिसके कई पात्र ऐतिहासिक हैं। अग्निमित्र का समय ईसा से डेढ़ दो सौ वर्ष पहले का तो अवश्य है, इससे कुछ और पहले का भी हो सकता है। दूसरा नाटक शकुंतला है जिसकी गणना संसार के सर्वश्रेष्ठ नाटकों में होती है। उनका विक्रमोर्वशीय नाटक भी बहुत ही उत्तम है। उसकी उत्तमता का एक प्रमाण यह भी है कि उसके अनुकरण पर संस्कृत में और भी अनेक नाटकों की रचना हुई है। कालिदास के अनंतर अच्छे नाटककारों में हर्ष की गणना है, जो ईसवी सातवीं शताब्दी के आरंभ में हुए थे और जिनकी लिखी हुई रत्नावली नाटिका और नागानंद आदि नाटक हैं। शूद्रक का मृच्छकटिक नाटक भी बहुत अच्छा है; पर कहते हैं कि वह भास के दरिद्रचारुदत्त के आधार पर लिखा गया है। इनके पीछे के नाटककारों में भवभूति हुए

जो कन्नौज के राजा यशोवर्मन् के आश्रित थे और जिनका समय सातवीं शताब्दी का अंतिम भाग माना जाता है। इनके रचित महावीरचरित, उत्तर-रामचरित और मालतीमाधव नाटक बहुत प्रसिद्ध हैं। इनके उपरांत नवीं शताब्दी के मध्य में भट्ट नारायण ने वेणीसंहार और विशाखदत्त ने मुद्राराक्षस की रचना की थी। नवीं शताब्दी के अंत में राजशेखर ने कर्पूरमंजरी, बालरामायण और बालभारत आदि नाटक रचे थे और ग्यारहवीं शताब्दी में कृष्णमिश्र ने प्रबोधचंद्रोदय नाटक की रचना की थी। दसवीं शताब्दी में धनंजय ने दशरूपक नामक प्रसिद्ध लक्षण-ग्रंथ भी लिखा, जिसमें नाटक की कथावस्तु, नायक, पात्र, कथोपकथन आदि का बहुत अच्छा विवेचन किया गया है।

ईसवी दसवीं या ग्यारहवीं शताब्दी तक तो संस्कृत में बहुत अच्छे अच्छे नाटकों की रचना होती रही पर इसके उपरांत संस्कृत नाटकों का पतन-काल आरंभ हुआ। इसके अनंतर जो नाटक बने वे नाट्य-कला की दृष्टि से उतने अच्छे नहीं हैं, जितने अच्छे उनसे पहले के बने हुए नाटक हैं। इसी लिये हम उनका कोई उल्लेख न करके एक दूसरी बात पर विचार करना चाहते हैं।

संस्कृत के नाटकों में यवनिका, यवनी और शकारि आदि शब्दों के आधार पर पहले कुछ विद्वान् कहा करते थे कि भारतवासियों ने नाट्य-कला यूनानियों से सीखी थी। यद्यपि आजकल इस मत के समर्थकों की संख्या बहुत ही कम रह गई है और अधिकांश विद्वान् यही मानने लगे हैं कि भारतवासियों ने अपनी नाट्य-कला का विकास सर्वथा स्वतंत्र रूप से किया था, तथापि इस संबंध में हम दो एक बातें कह देना आवश्यक समझते हैं। पहली बात यह है कि भारतवासियों ने उस समय भी अच्छे अच्छे नाटक तैयार कर लिए थे, जिस

भारतीय नाट्य-कला पर यूनानी प्रभाव

समय यूनानियों में नाट्य-कला का विकास अभी आरंभ हुआ था। दूसरे, भारतवासियों ने यूनानी भाषा कभी अच्छी तरह सीखी ही नहीं। कुशन राज-दरबार में कभी कभी यूनानी भाषा बोली जाती थी पर वह बहुत ही टूटी-फूटी होती थी। यहाँ के सिक्कों आदि पर जो यूनानी भाषा मिलती है वह भी प्रायः बहुत रद्दी है। भारत में कभी कोई साहित्यिक यूनानी भाषा जानता ही नहीं था। भारत-वासियों ने ज्योतिष संबंधी कुछ बातें अवश्य यूनानियों से सीखी थीं, पर उनकी शिक्षा प्राप्त करने के लिये यहाँ से लोग बाहर गए थे। ज्योतिष सरीखे विषयों की शिक्षा के लिये लोगों का विदेश जाना तो विशेष आश्चर्यजनक नहीं है, पर नाट्य-कला की शिक्षा प्राप्त करने के लिये विदेश जाना कल्पनातीत ही है। हाँ, यह संभव है कि भारतवासियों ने नाटकों के परदे आदि यूनानियों से बनवाए हों अथवा वे उस देश के बने कपड़े के बनते रहे हों, जिससे उनका नाम यवनिका रखा गया हो। इन शब्दों से तो अधिक से अधिक केवल यही सूचित होता है कि जिस समय हमारे यहाँ के अच्छे अच्छे नाटक बने थे उस समय यवनों और शकों के साथ हमारा संबंध हो चुका था। तीसरी बात यह है कि भारतीय और यूनानी नाटकों के तत्त्वों में आकाश और पाताल का अंतर है। हमारे यहाँ करुण (Tragic) और हास्य (Comic) का कोई झगड़ा ही नहीं है। हमारे सभी नाटक लोकानंदकारी होते थे और हमारे यहाँ रंगमंच पर हत्या, युद्ध आदि के दृश्य दिखलाना वर्जित था। यूनानी नाटकों में केवल चरित्र-चित्रण की ही प्रधानता है, पर हमारे यहाँ प्राकृतिक शोभा के वर्णन और रसों की प्रधानता मानी गई है। विक्रमोर्वशीय का आरंभ ही हिमालय के विशाल प्राकृतिक दृश्य से होता है। उत्तर-रामचरित और शकुंतला में भी प्राकृतिक शोभा के ही वर्णन हैं। यूनानी नाटक बहुधा खुले

मैदानों में हुआ करते थे, अथवा ऐसे अखाड़ों आदि में हुआ करते थे जिनमें और भी अनेक प्रकार के खेल-तमाशे होते थे। पर भारतीय नाटक एक विशेष प्रकार की बनी हुई रंगशालाओं में होते थे। सारांश यह है कि कदाचित् एक भी बात ऐसी नहीं है जो यूनानी और भारतीय नाटकों में समान रूप से पाई जाती हो। हाँ, दोनों में अंतर बहुत अधिक और प्रत्यक्ष है, और फिर सबसे बड़ी बात यह है कि नाटक की रचना करना प्रतिभा का काम है और प्रतिभा कभी किसी की नकल नहीं करती। वह जो कुछ करती है, आपसे आप, सर्वथा स्वतंत्र रूप से करती है।

आरंभ से ही यूनानी नाटकों का संबंध वहाँ के धर्म से रहा है। कुछ विद्वानों का मत है कि आरंभ में मिस्र अथवा पश्चिमी एशिया के कुछ प्राचीन देशों की देखादेखी यूनान-वालों ने भी अपने यहाँ नाट्य-कला का प्रचार किया था। यह तो प्रायः सिद्ध ही है कि

यूनानी नाट्य-कला का विकास

यूनानियों ने कई धार्मिक सिद्धांत तथा विश्वास मिस्रवालों से ग्रहण किए थे और यूनान तथा मिस्र दोनों के नाटकों का वहाँ के धर्म से घनिष्ठ संबंध है। अतः यह माना जाता है कि यूनानियों ने अनेक धार्मिक शिक्षाओं के साथ साथ मिस्रवालों अथवा पश्चिमी एशिया की कुछ प्राचीन जातियों से नाट्य-कला भी ली थी। यह निश्चित है कि यूनानियों ने स्वयं ही नाट्य-कला की सृष्टि नहीं की थी, पर साथ ही यह भी निर्विवाद है कि उन्होंने उसका विकास सर्वथा स्वतंत्र रूप से और अपने ढंग पर किया था। आरंभ में यूनान में डायोनिसस देवता के उद्देश्य से एक बहुत बड़ा धार्मिक उत्सव हुआ करता था। पीछे से उसी उत्सव के अवसर पर वहाँ नाटक भी खेले जाने लगे थे। वे नाटक दिन भर होते रहते थे और उनकी व्यवस्था राज्य की ओर से होती थी। भिन्न भिन्न स्थानों में यह

उत्सव वसंत ऋतु के आरंभ, मध्य अथवा अंत में हुआ करता था। उस उत्सव के साथ जो नाटक होते थे उन्हें देखने के लिये दर्शकों को किसी प्रकार का प्रवेश-शुल्क नहीं देना पड़ता था, पर उन्हें अपने लिये बिछौने और जलपान आदि का स्वयं ही प्रबंध करना पड़ता था। परंतु उस समय जो नाटक होते थे वे पूरे नाटक नहीं कहे जा सकते। हाँ, उनमें नाटकों का बिलकुल पूर्व-रूप अवश्य था। वास्तविक नाटकों और व्यवस्थित नाटक-मंडलियों की रचना और संगठन तो वहाँ ईसा से केवल चार-पाँच सौ वर्ष पहले ही आरंभ हुआ था।

प्राचीन काल से यूनान के डोरियन राज्यों में यह प्रथा प्रचलित थी कि लोग देव-मंदिरों में एकत्र होकर भजन और नृत्य किया करते थे। वहाँ की सारी प्रजा प्रायः सैनिक थी, अतः उस नृत्य में सैनिकों के कृत्यों का साधारण नाट्य हुआ करता था। आगे चलकर उसमें यह विशेषता उत्पन्न हुई कि भारतीय सूत्रधारों की तरह वहाँ के कवि भी अपनी मंडलियाँ संगठित करने लगे और अपने सिखाए हुए गायकों और नर्त्तकों को साथ लेकर धार्मिक उत्सवों के समय ऐसे नाटक करने लगे जो नाटक के केवल पूर्व-रूप ही कहे जा सकते हैं। धीरे धीरे उन नृत्यों ने कई भिन्न भिन्न स्वरूप प्राप्त कर लिए और उन्हीं स्वरूपों से आगे चलकर करुण और हास्य नाटकों की सृष्टि हुई। उनमें से एक प्रकार का नृत्य, जिसे हम "अजा-नृत्य" कह सकते हैं, बहुत प्रचलित हुआ। उस नृत्य में पचास आदमी होते थे जो ऐसे वेश धारण करते थे जिनके कारण वे आधे मनुष्य और आधे पशु जान पड़ते थे। उनके मुँह पर बकरी का चेहरा लगा दिया जाता था और उनके पैर तथा कान भी बकरियों के पैरों और कानों के समान बना दिए जाते थे। वे लोग जो गीत गाते थे वे "ट्रेजेडी" (Tragedy) कहलाते थे

जिसका भावार्थ "अजा-गीत" है। आगे चलकर इन्हीं अजा-गीतों से करुण नाटकों की सृष्टि हुई थी। इन अजा-गीतों का यूनानियों के डायोनिसस देवता के स्वरूप के अनुसार ही नाम-करण हुआ था। हमारे यहाँ के गणेश और नृसिंह आदि के समान डायोनिसस का स्वरूप बैल और बकरी के स्वरूप का सम्मिश्रण माना जाता था। मूर्त्तियों में उसके सिर पर साँड़ के सींग लगाए जाते थे और उनका शरीर बकरी की खाल के समान रखा जाता था। प्राचीन काल में यूनान के लोग स्वयं भी बकरी की खाल पहना करते थे; और अब तक कहीं कहीं वहाँ के देहातियों और खेतिहरों की यही पोशाक है। आजकल भी थ्रेस आदि कुछ स्थानों में ब्रज की रासलीलाओं और बंगाल की यात्राओं की भाँति पुराने ढंग के कुछ नाटक होते हैं, जिनमें पात्र बकरी की खाल पहनकर अभिनय करते हैं। एक और स्थान में लोग एड्रास्टस नामक एक स्थानिक देवता के उत्सव में भी इसी प्रकार के नृत्य और अभिनय करते थे। यूनान की पौराणिक गाथाओं के अनुसार डायोनिसस और एड्रास्टस दोनों को अनेक प्रकार के कष्ट सहने पड़ते थे; और यूनानियों के नाटकों के मुख्य आधार यही देवता और उनके चरित्र होते थे, जिनमें विपत्तियों और कष्टों की ही अधिकता रहती थी। यही कारण है कि यूनान के करुण नाटकों का मूल ये "अजा-गीत" ही माने जाते हैं। यहाँ यह बात भी ध्यान में रखने योग्य है कि यूनानी करुण नाटकों का अंत वास्तव में दुःखपूर्ण नहीं होता वरन् मध्य ही दुःखपूर्ण होता है, क्योंकि उनके देवताओं ने पौराणिक कथाओं के अनुसार दुःख भोगने के उपरांत अंत में विजय ही प्राप्त की थी। हाँ, आगे चलकर उनके अनुकरण पर और और देशों में जो नाटक बने वे प्रायः दुःखांत ही थे।

यद्यपि ये अजा-गीत युरोप के आधुनिक करुण नाटकों के मूल रूप हैं, तथापि यूनान में वास्तविक करुण नाटकों का आरंभ महाकवि होमर के ईलियड महाकाव्य की रचना के अनंतर हुआ था। पहले तो देवताओं के सामने केवल नृत्य और गीत होते थे, पर पीछे से उनमें संवाद या कथोपकथन भी मिला दिया गया था। गायकों का प्रधान एक मंच पर खड़ा हो जाता था और शेष गायकों के साथ उसका कुछ कथोपकथन होता था, पर इस कथोपकथन का मूल संभवतः महाकवि होमर का ईलियड महाकाव्य था। पहले शहरों में कुछ भिखमंगे ईलियड महाकाव्य के इधर-उधर के अंश गाते फिरते थे जो लोगों को बहुत पसंद आते थे और जिनका प्रचार शीघ्र ही बहुत बढ़ गया था। कुछ दिनों के अनंतर धार्मिक उत्सवों पर अजा-गीतों के साथ साथ ईलियड के अंश भी गाए जाने लगे। इस प्रकार अजा-गीतों और ईलियड-गान के संयोग से यूनान में नाट्य-कला का बीजारोपण हुआ, क्योंकि गीत और नृत्य में कथोपकथन के मिल जाने पर नाटकों की सृष्टि में वेश-भूषा और भाव-भंगी के अतिरिक्त कदाचित् ही किसी दूसरी बात की कसर रह जाती हो।

इस प्रकार नाटकों का सूत्रपात होने के उपरांत धीरे धीरे नाट्य-कला का विकास होने लगा और लोग उसमें नवीनता अथवा विशेषता लाने लगे। कहते हैं कि ईसा से प्रायः छः सौ वर्ष पूर्व थेस्पिस नामक एक यूनानी कवि हुआ था, जिसने यूनान में सबसे पहले नाटक लिखना आरंभ किया था। यह प्रसिद्ध है कि उसने सात करुण नाटकों की रचना की थी, पर अब उनमें से एक भी प्राप्त नहीं है। थेस्पिस अपने साथ दो और आदमी रखता था। दोनों को वह एक गाड़ी पर अपने साथ लेकर गाँव गाँव और नगर नगर घूमा करता था। उसी गाड़ी पर वे तीनों मिलकर

गाते और कुछ कथोपकथन करते थे। उसके साथी किसी प्रकार का चेहरा लगाए रहते थे और किसी देवता के जीवन से संबंध रखनेवाली घटनाओं का नाट्य किया करते थे। बहुत दिनों तक नाटक के इस रूप में कोई विशेष उन्नति नहीं हुई। यदि कोई उन्नति या परिवर्त्तन हुआ भी तो वह केवल यही कि गीत घटने लगे और कथोपकथन बढ़ने लगे। पर नटों की संख्या अथवा रंगमंच में कोई विशेष उल्लेख योग्य परिवर्त्तन अथवा विकास नहीं हुआ, सब बातें प्रायः ज्यों की त्यों रहीं।

प्राचीन काल में यूनान में यह प्रथा थी कि कुछ विशेष अवसरों पर लोग पुरुष की जननेंद्रिय का चिह्न बनाकर उसका पूजन करते थे और वही चिह्न लेकर जलूस निकालते थे। उस जलूस में लोग तरह तरह के अश्लील गीत गाते थे। उस जलूस की समता अपने यहाँ के होली के स्वाँगों से की जा सकती है। उस जलूस के साथ जो गीत गाए जाते थे, वे उस इंद्रिय-विशेष की प्रशंसा में और प्रायः हास्यपूर्ण हुआ करते थे। कहते हैं कि उन्हीं गीतों में मोरिस नामक स्थान के सुसेरियन नामक एक व्यक्ति ने कुछ परिवर्त्तन और सुधार करके उनकी अश्लीलता कम की थी और उनमें अपने बनाए कुछ नए गीत मिलाए थे। इसके उपरांत मेइसन, टालिनस आदि कई व्यक्तियों ने उसमें कुछ और सुधार तथा परिवर्त्तन किए। परंतु वे हास्यरस-प्रधान गीत और नाटक यूनानियों को पसंद नहीं आए। यूनान में प्रायः सिकंदर के समय तक करुण नाटकों की ही प्रधानता रही तथा हास्य नाटकों का उतना अधिक प्रचार न हो सका। उन दिनों उन हास्य नाटकों में प्रायः चौबीस गायक हुआ करते थे और पात्रों का प्रवेश, प्रस्थान, कथोपकथन और परिहास आदि भी हुआ करता था। बिलकुल आरंभ में उन नाटकों में केवल ऐतिहासिक, पौराणिक,

यूनानी हास्य नाटक

सामाजिक अथवा राजकीय पुरुषों की हँसी उड़ाई जाती थी और पशु पक्षी आदि के स्वाँग भरे जाते थे। विशेषतः राजकीय अधिकारियों के नाम पर खूब गीत बनाए जाते थे और उनकी खूब खिल्ली उड़ाई जाती थी। पर आगे चलकर राज्य के द्वारा इन बातों को रोकने के लिये अनेक प्रतिबंध होने लगे। साधारणतः यूनानी हास्य नाटकों के ऐतिहासिक दृष्टि से तीन युग माने जाते हैं। पहला प्राचीन युग, जो ईसा से प्रायः ३९० वर्ष पहले तक था; दूसरा मध्य युग, जो उसके बाद से लेकर ईसा के ३०६ वर्ष पूर्व तक माना जाता है; और तीसरा नवीन युग, जो उसके अनंतर आरंभ होता है। मध्य युग में ही प्राचीन युगवाली अश्लीलता और भड़प्पन बहुत कुछ कम हो गया था; और नवीन युग में तो उसमें और भी कई नए सुधार हुए थे। नवीन युग में और अनेक प्रकार के सुधारों के साथ ही साथ हास्य नाटकों में शृंगार और प्रेमपूर्ण कथाओं का भी प्रवेश होने लगा। उस युग के प्रवर्त्तक फिलेमन और मेनेंडर आदि माने जाते हैं। थोड़े ही दिनों के उपरांत जब यूनानी सभ्यता का अंत आ चला और रोमवालों ने यूनान पर विजय प्राप्त कर ली, तब यूनान की और और अनेक बातों के साथ वहाँ की नाट्य-कला भी रोम चली गई; और वहाँ से सारे युरोप में फैली।

रोम के नाटक

रोम में पहला नाटक ईसा से २४० वर्ष पहले एक भारी विजय के उपलक्ष में हुआ था। उस समय रोम के रंगमंच पर पहले पहल करुण और हास्य दोनों प्रकार के नाटक खेले गए थे। उन दोनों नाटकों का रचयिता एंड्रोनिकस नामक एक यूनानी माना जाता है, जिसने स्वयं उन नाटकों में अभिनय किया था। इसके उपरांत रोम में और भी जो नाटक बने, वे सब नवीन युग के यूनानी नाटकों के अनुकरण मात्र थे। विशेषता केवल इतनी थी कि उनमें रोम की राष्ट्रीयता

के भावों को अधिक स्थान मिलता था; और यूनानी नाटकों से रोम के नाटकों में यही सबसे बड़ी विशेषता थी, क्योंकि यूनानी नाटक बहुधा राष्ट्रीय भावों से शून्य होते थे और उनका रूप प्राय: धार्मिक हुआ करता था। नाट्य-कला की दृष्टि से भी रोम के नाटकों में थोड़े बहुत परिवर्तन और सुधार हुए थे। उन्हीं दिनों रोम में अनेक रंगशालाएँ भी बन गई थीं। रोम में पहली स्थायी रंगशाला ईसा से ५५ वर्ष पहले बनी थी, जिसमें लगभग १८००० दर्शकों के बैठने के लिये स्थान था। रोम के नाटकों में अभिनेतागण प्राय: यूनान या दक्षिण इटली के दास हुआ करते थे। इसका कारण कदाचित् यही था कि प्राचीन काल में प्राय: सभी देशों में अभिनेता और नट कुछ उपेक्षा की दृष्टि से देखे जाते थे। रोम के लोग विजेता थे, इसलिये वे अभिनय आदि के लिये अपने दासों को शिक्षा देकर तैयार किया करते थे। रोम की सभ्यता और बल की वृद्धि के साथ ही साथ वहाँ नाटकों की भी खूब उन्नति हुई थी। पर ईसा की चौथी शताब्दी के मध्य में, जब ईसाई पादरियों का जोर बहुत बढ़ गया और वे नाटकों तथा अभिनेताओं की बहुत निंदा और विरोध करने लगे, रोम में नाट्य-कला का ह्रास आरंभ हुआ। जब रोमन लोग रंगशालाओं में अपने मनोविनोद के लिये अनेक प्रकार के क्रूरता और निर्दयता-पूर्ण खेल कराने लग गए और उन रंगशालाओं के कारण लोगों में विलासिता बहुत बढ़ गई तब नाटकों आदि का और भी घोर विरोध होने लगा तथा राज्य की ओर से उनका प्रचार रोकने के लिये अनेक प्रकार के नियम बनने लगे। यह निश्चय किया गया कि नट लोग ईसाइयों के धार्मिक उत्सवों आदि में सम्मिलित न हो सकें और जो लोग रविवार या दूसरी छुट्टियों के दिन गिरजा में न जाकर नाट्यशालाओं में जाया करें वे समाज-च्युत कर दिए जायँ। उस समय अधिकांश युरोप

में, और विशेषत: रोम में, ईसाई धर्म का बहुत अधिक जोर था, यहाँ तक कि राजकीय अधिकार भी प्राय: धर्माचार्यों के ही हाथ में चला गया था। अत: उनके विरोध के कारण रोम में नाट्य-कला का ह्रास होने लगा और अंत में नाटक बिलकुल उठ गए। इसके कई सौ वर्ष पीछे ईसाई धर्माचार्यों तथा कुछ और लोगों ने फिर से धार्मिक तथा नैतिक नाटकों का प्रचार आरंभ किया था।

युरोप के नाटक

हम पहले कह चुके हैं कि धर्माचार्यों और पादरियों के विरोध के कारण लगभग चौथी शताब्दी से ही युरोप में नाटकों का पतन आरंभ हो गया था। यद्यपि उस समय नाटकों का होना बिलकुल बंद नहीं हुआ था, तथापि बहुत कुछ कम अवश्य हो गया था और उनका स्थान भावाश्रित नृत्य या 'मार्ग' ने ले लिया था। परंतु गिरजा में ईसाइयों की जो ईश्वर-प्रार्थना होती है, स्वयं उसी में नाटक के कई तत्त्व वर्त्तमान हैं, इसलिये वह प्रार्थना ही नाटक का रूप धारण करने लगी और धीरे धीरे कई सौ वर्षों के उपरांत वहाँ धार्मिक नाटकों की रचना आरंभ हुई। पीछे से प्रार्थना के उपरांत स्वयं गिरजा में ही अथवा उसके बाहर नाटक होने लगे। आगे चलकर इन धार्मिक नाटकों का और भी विकास हुआ और धीरे धीरे वहाँ अनेक व्यवसायी नाटक-मंडलियाँ स्थापित हो गईं। जब धार्मिक नाटकों की बहुत अधिकता हो गई, तब धीरे धीरे नैतिक और सामाजिक नाटक भी बनने लगे। अब जैसे जैसे इन नाटकों का प्रचार बढ़ता जाता था वैसे वैसे नाटकों पर से धर्माचार्यों का अधिकार भी उठता जाता था। साथ ही स्वयं ईसाई धर्म का प्रभाव भी पहले के समान न रह गया था, इससे नटों और नाटककारों को और भी स्वतंत्रता मिल गई। उस समय तक नाटकों के विकास का यह क्रम और अवस्था युरोप के प्राय: सभी देशों में समान थी। परंतु

एक बात थी। अब तक तो युरोप के नाटकों का रूप बहुधा स्वाँगों और रासों आदि के समान ही था, पर युरोप के पुनरुत्थान-काल के उपरांत उनको साहित्यिक रूप भी प्राप्त होने लग गया था। दूसरी बात यह थी कि पुनरुत्थान-काल के पूर्व प्रायः सारे युरोप के नाटक अनेक बातों में बिलकुल एक से होते थे। पर उसके उपरांत प्रत्येक देश में अपने अपने ढंग पर अलग अलग राष्ट्रीय नाटक बनने लग गए। राष्ट्रीयता के बंधन में पड़ने के उपरांत भिन्न भिन्न देशों के नाटकों की उन्नति भिन्न भिन्न प्रकार और गति से होने लगी। विशेषतः स्पेन और इटलीवालों ने उस समय नाट्य-कला में बहुत अच्छी उन्नति की और इन देशों में अनेक अच्छे अच्छे नाटक लिखे गए। युरोप के अन्यान्य देशों के आधुनिक नाटकों पर बहुधा इन्हीं में से किसी न किसी देश के नाटकों का प्रभाव पड़ा है।

युरोप के अन्यान्य देशों की भाँति इँगलैंड में भी मध्य युग तक पुराने नाटकों का अंत हो गया था। पर महारानी एलिज़बेथ

अँगरेजी नाटक

के राज्यारोहण के समय वहाँ फिर नाटकों का प्रचार आरंभ हुआ। उस समय वहाँ पहले पहल इटैलियन भाषा के कुछ नाटकों का प्रचार हुआ था, जिनकी देखादेखी अँगरेज कवि भी करुण और हास्य नाटक रचने लगे थे। महारानी एलिज़बेथ को नाटकों का बहुत शौक हो गया था, अतः उनके शासन-काल में इँगलैंड में नाट्य-कला की यथेष्ट उन्नति हुई। उनके समय में अनेक करुण और हास्य नाटक बने, जिन्हें सर्वसाधारण बड़े चाव से देखते थे। उसी समय रंगशालाओं में राजनीति का भी कुछ पुट आ गया था, जिसके कारण वहाँ के राजनीतिज्ञों में कुछ वैमनस्य हो चला था। ऐसे समय में इँगलैंड के नाट्य-क्षेत्र में शेक्सपियर ने प्रवेश करके

अँगरेजी नाटक-रचना में एक नवीन युग का प्रवर्तन किया। शेक्सपियर, एक प्रतिभाशाली कवि होने के अतिरिक्त, स्वयं भी पहले कुछ दिनों तक नट का काम कर चुका था, इसलिये उसके सभी हास्य और करुण नाटक बहुत उच्च कोटि के होते थे और सर्वसाधारण में उनका आदर भी अधिक होता था। इसके उपरांत इँगलैंड में प्रायः जितने अच्छे अच्छे नाटककार हुए, उन सब पर शेक्सपियर का प्रभाव पड़ा था; और अभी तक वहाँ के नाटकों में शेक्सपियर की थोड़ी बहुत छाया पाई जाती है। बीच में गृह-कलह और राजनीतिक झगड़ों आदि के कारण और राज्य की ओर से नाटकों तथा रंगशालाओं में हस्तक्षेप होने के कारण, कुछ दिनों के लिये, इँगलैंड की नाट्य-कला की उन्नति में बहुत कुछ बाधा पड़ गई थी; और ऐसा जान पड़ता था कि मानों उसका अंत हो जायगा। पर यह बात नहीं हुई और थोड़े ही दिनों के उपरांत वहाँ नाट्य-कला का फिर से उद्धार होने लगा। इधर उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य से उसकी विशेष उन्नति होने लगी है; और अब तो इँगलैंड की नाट्य-कला संसार में बहुत उन्नत तथा उसका नाट्य-साहित्य बहुत श्रेष्ठ माना जाता है।

यहाँ हम एक और बात बतला देना चाहते हैं। जिस प्रकार रोम में नाट्य-कला का प्रचार यूनान के अनुकरण पर हुआ था, उसी प्रकार यूनान में नाटकों का प्रचार मिस्र के नाटकों की देखादेखी हुआ था। यूनान में नाटकों का प्रचार होने से बहुत पहले मिस्र में नाटकों का बहुत कुछ प्रचार था। उनका आरंभिक रूप भी यूनानी नाटकों के आरंभिक रूप से बहुत कुछ मिलता जुलता था। वहाँ भी अनेक धार्मिक अवसरों पर देवी-देवताओं के जीवन से संबंध रखनेवाली घटना के नाटक हुआ करते थे। परंतु मिस्र की नाट्य-कला भारत की नाट्य-कला के समान

मिस्र के नाटक

इतनी प्राचीन है कि उसका उस समय का ठीक ठीक और शृंखलाबद्ध इतिहास मिलना बहुत ही कठिन है।

चीन में भी नाट्य-कला का विकास, भारत की भाँति, बहुत प्राचीन काल में नृत्य और संगीत कलाओं के संयोग से हुआ था।

चीन के नाटक

पता चलता है कि कनफूची के समय में भी वहाँ अपने आरंभिक रूप में नाटक हुआ करते थे। ऐसे नाटक प्रायः फसल अथवा युद्ध आदि की समाप्ति पर हुआ करते थे। उनमें लोग नृत्य और गीत आदि के साथ कई प्रकार की नकलें किया करते थे। परंतु नाटक के शुद्ध और व्यवस्थित रूप का प्रचार वहाँ ईसा से लगभग ५८० वर्ष पीछे हुआ था। चीनवाले कहते हैं कि तत्कालीन सम्राट् वांन ने पहले पहल नाटक का आरंभ किया था। पर कुछ लोगों का मत है कि नाटक का आविष्कर्ता सम्राट् हुएन-संग था, जो ईसवी सन् ७२० के लगभग हुआ था। चीनी नाट्य-कला का इतिहास तीन कालों में विभाजित किया जा सकता है। पहला काल तांग राजवंश का शासन-काल था जो ईसवी सन् ७२० से ९६० तक था; दूसरा सुंग राजवंश का शासन-काल था जो सन् ९६० से ११२६ तक था; और तीसरा काल युआन राजवंशों का शासन-काल था जो सन् ११२६ से १३६७ तक था। तांग काल के नाटक आजकल नहीं मिलते, पर कहा जाता है कि उस काल के सभी नाटक ऐतिहासिक हुआ करते थे और उनमें युद्धों तथा वीरों के कार्यों का नाट्य हुआ करता था। सुंग काल के नाटक प्रायः गीतों से ही भरे होते थे और उनमें नाटक की सारी कथा गाकर कही जाती थी। उन दिनों के नाटकों में एक विशेषता यह भी थी कि प्रत्येक नाटक में अधिक से अधिक पाँच ही नट हुआ करते थे। पर युआन काल में नाटकों की बहुत अधिक उन्नति हुई थी। उन दिनों

वहाँ जैसे अच्छे नाटक बने, वैसे कदाचित् आज तक भी न बने होंगे। इसके अतिरिक्त चीनियों ने उन दिनों अपने नाटकों में जो विशेषताएँ उत्पन्न की थीं, वे प्रायः आज तक ज्यों की त्यों वर्तमान हैं। कुछ विद्वानों का तो यहाँ तक मत है कि चीन के उन दिनों के नाटक आजकल के नाटकों से किसी बात में कम नहीं हैं। उस काल में वहाँ ८५ नाटककार हुए थे, जिनमें चार स्त्रियाँ भी थीं। उस समय के लिखे हुए आज तक लगभग ५५० नाटक मिले हैं, जो किसी एक विषय के नहीं बल्कि भिन्न भिन्न विषयों के हैं। उन दिनों पौराणिक, ऐतिहासिक, धार्मिक, सामाजिक सभी प्रकार के नाटक लिखे जाते थे और रंगमंच पर सम्राट् से लेकर घर की साधारण मजदूरनियों तक के चरित्रों का अभिनय होता था। उनमें का कथोपकथन बिलकुल साधारण और बोलचाल की भाषा में हुआ करता था। उस समय के नाटकों में पाँच अंक होते थे, जिनमें से पहला कथानक या विषय-प्रवेश के रूप में होता था। परंतु चीनी रंगशालाओं में परदे या यवनिकाएँ नहीं होती थीं और न दो अंकों के बीच में किसी प्रकार का विश्राम आदि हुआ करता था। उन दिनों की नाटक-रचना में इस बात का बहुत अधिक ध्यान रखा जाता था कि उससे लोगों को पूरी पूरी शिक्षा मिले तथा उनका चरित्र सुधरे; और उनमें कोई अश्लील या आपत्ति-जनक बात न आने पावें। पर फिर भी उनमें हास्य रस की कमी नहीं होती थी। उनकी कथावस्तु और रंगशाला, दोनों बिलकुल सीधी सादी और सरल होती थीं। उनकी रंगशालाएँ तो इतनी साधारण होती थीं कि छोटे से छोटे गाँव में भी, आवश्यकता पड़ने पर, तुरंत रंगशाला बना ली जाती थी। यही कारण था कि चीन में नाटकों का प्रचार गाँवों तक में हो गया था। पर नटों का वहाँ भी समाज में कोई आदर नहीं होता था। वे

नौकरों तथा नाइयों के समान समझे जाते थे। उनको सार्वजनिक परीक्षाओं तक में सम्मिलित होने का अधिकार नहीं था। पहले, वहाँ स्त्रियाँ भी रंगमंच पर अभिनय किया करती थीं, पर जब से एक नटी को सम्राट् खिन-लांग ने अपनी उपपत्नी बना लिया तब से वहाँ की रंगशालाओं में स्त्रियों का प्रवेश बंद हो गया।

एशिया में भारत और चीन यही दो ऐसे देश हैं जिनमें बहुत प्राचीन काल में और स्वतंत्र रूप से नाटकों का आरंभ, प्रचार और विकास हुआ था। अन्यान्य देशों में बहुधा इन्हीं दोनों देशों से नाटक गए हैं। स्याम और मलय आदि देशों में भारत की देखादेखी और जापान में चीन के अनुकरण पर नाटकों का आरंभ और प्रचार हुआ था। यद्यपि अरब देश का साहित्य बहुत उन्नत और पूर्ण है तथापि यह बड़े आश्चर्य का विषय है कि वहाँ नाटकों का अभी तक विकास ही नहीं हुआ। नाटकों की ओर अरबवालों की प्रवृत्ति बहुत पीछे हुई है और अब भी वहाँ मौलिक नाटकों का अभाव ही है। आजकल अरबी भाषा में जो थोड़े बहुत नाटक मिलते भी हैं वे दूसरी भाषाओं के अनुवाद हैं। इस्लाम धर्म में तो अवश्य ही नृत्य, गीत आदि की मनाही है, पर आश्चर्य है कि उसके प्रचार के पहले वहाँ नाटकों का आरंभ क्यों नहीं हुआ। जिस मिस्र देश में बहुत प्राचीन काल में भी किसी न किसी रूप में अनेक नाटक विद्यमान थे, उस मिस्र देश में भी अब निज का कोई नाटक नहीं रह गया है। जो नाटक हैं भी, वे दूसरों की नकल या अनुवाद हैं। यह उस देश की दशा है जिसकी देखा-देखी यूनान में नाटकों का प्रचार हुआ था। इस विषय में यूनान का अनुकरण रोम ने और पीछे से रोम का अनुकरण प्रायः सारे युरोप ने किया था। अमेरिका के पेरू और मेक्सिको आदि देशों में अवश्य ही बहुत प्राचीन और बिलकुल स्वतंत्र रूप से नाटकों

का आरंभ तथा प्रचार हुआ था। यद्यपि आजकल वहाँ के लाल वर्णवालों की दशा बहुत ही शोचनीय है, तथापि वहाँ अब भी प्राचीन ढंग के नाटक होते हैं। इन देशों के नाटकों के संबंध में सबसे अधिक ध्यान देने की बात यह है कि इनके नाटकों की अनेक बातें भारतीय और संस्कृत नाटकों से बहुत कुछ मिलती-जुलती हैं।

आधुनिक भारतीय नाटक

हम ऊपर कह चुके हैं कि ईसा की दसवीं शताब्दी के उपरांत भारतीय नाट्य-कला का ह्रास होने लगा था और अच्छे नाटकों का बनना प्रायः बंद सा हो चला था। यद्यपि हमारे यहाँ के हनुमन्नाटक, प्रबोधचंद्रोदय, रत्नावली, मुद्राराक्षस आदि नाटक दसवीं और बारहवीं शताब्दी के बीच में बने थे, तथापि इसमें संदेह नहीं कि उन दिनों नाटकों की रचना और प्रचार दोनों में कमी होने लग गई थी। चौदहवीं शताब्दी के उपरांत तो मानों एक प्रकार से उनका सर्वथा अंत ही हो गया था। इधर संस्कृत में जो थोड़े बहुत नाटक बने भी, वे प्रायः साधारण कोटि के थे। यहाँ इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि भारतवर्ष में नाट्य-कला का ह्रास ठीक उसी समय प्रारंभ हुआ था, जिस समय इस देश पर मुसलमानों के आक्रमणों का आरंभ हुआ था। विदेशियों के आक्रमणों और राजनीतिक अव्यवस्था के समय यदि लोगों को खेल-तमाशे अच्छे न लगें, तो यह कोई अस्वाभाविक बात नहीं है; और इसके परिणाम-स्वरूप यदि भारत में नाट्य-कला का अंत हो गया तो इसमें किसी को आश्चर्य न होना चाहिए। कुछ दिनों के आक्रमणों और राजनीतिक अव्यवस्था के उपरांत प्रायः सारा देश मुसलमानों के हाथ में चला गया। आरंभ से ही मुसलमानों में संगीत और नाट्य-कला का नितांत अभाव था। यही नहीं वरन् धार्मिक दृष्टि से वे लोग इन सब बातों के घोर विरोधी थे। अतः उनके समय में नाटकों की कुछ भी चर्चा न

हो सकी। हाँ, जिन स्थानों में हिंदुओं का राज्य था, उनमें कभी कभी और कहीं कहीं नाटक रचे और खेले जाते थे। इस प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक भारत से मानों अपनी निज की नाट्य-कला उठ सी गई थी। जो थोड़ी बची भी थी वह भी, आधुनिक नाटकों के रूप में नहीं बल्कि, नाटकों के विलकुल पूर्वरूप में थी। संयुक्त प्रांत में रासलीला, बंगाल में यात्रा और महाराष्ट्र प्रदेश में कीर्तन आदि से ही लोग अपना मन बहला लेते थे, पर इधर प्रायः पचास साठ वर्षों से भारत के सभी प्रांतों में अँगरेजी ढंग की रंगशालाएँ बहुत बढ़ गई हैं, जिनमें अनेक प्रकार के सामाजिक, ऐतिहासिक और धार्म्मिक नाटक होते हैं। इधर कुछ दिनों से कहीं कहीं राजनीतिक नाटक भी होने लगे हैं। विशेषतः बंगालियों, महाराष्ट्रों और गुजरातियों ने इस विषय में बहुत कुछ उन्नति की है और उनकी रंगशालाएँ बहुत अच्छे ढंग से चल रही हैं। रंगशालाओं के साथ ही साथ इन लोगों ने अपनी भाषा में अनेक उत्तमोत्तम नाटकों की भी रचना की है। पर हिंदी में जहाँ और अनेक बातों का अभी आरंभ हुआ है, वहाँ नाटकों का भी आरंभ ही समझना चाहिए। यदि यह कहा जाय कि हिंदी में बँगला, मराठी या गुजराती के ढंग के अच्छे अच्छे नाटकों की रचना का श्रीगणेश भी नहीं हुआ है, तो कोई अत्युक्ति न होगी। पर इस विषय में और बातें कहने के पहले हम संक्षेप में हिंदी नाटकों का कुछ इतिहास दे देना चाहते हैं।

हिंदी नाटक

यों कहने को चाहे हिंदी में नेवाज कवि-कृत शकुंतला, हृदयराम-कृत हनुमन्नाटक, या ब्रजवासीदास-कृत प्रबोधचंद्रोदय आदि कई सौ वर्ष पहले के बने हुए कुछ नाटक वर्त्तमान हों, पर वास्तव में नाट्य-कला की दृष्टि से वे नाटक नहीं कहे जा सकते; क्योंकि उनमें नाटक के

नियमों का पालन नहीं किया गया है और वे काव्य ही काव्य हैं। हाँ, प्रभावती और आनंदरघुनंदन आदि कुछ नाटक अवश्य ऐसे हैं जो किसी प्रकार नाटक की सीमा में आ सकते हैं। कहते हैं कि हिंदी का पहला नाटक भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र के पिता श्रीयुक्त बाबू गोपालचंद्र उपनाम गिरधरदास-कृत 'नहुष नाटक' माना जाना चाहिए; पर वह भी साधारण बोलचाल की हिंदी में नहीं, ब्रजभाषा में है। इसके उपरांत राजा लक्ष्मणसिंह ने शकुंतला नाटक का अनुवाद किया था। यद्यपि यह नाटक भाषा आदि के विचार से बहुत अच्छा है, परंतु इसे मौलिक नाटक नहीं कह सकते; क्योंकि यह कालिदास-कृत अभिज्ञान-शाकुंतल नाटक का अनुवाद है। भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र ने तो मानों नाटक-रचना से ही आधुनिक हिंदी को जन्म दिया था। उन्होंने चौदह नाटक लिखे थे, जिनमें से अधिकांश अनुवाद नहीं तो छायानुवाद अवश्य थे। तो भी उनके कई नाटक बहुत अच्छे हैं और अब भी अनेक स्थानों में, समय समय पर, खेले जाते हैं। लाला श्रीनिवासदास-कृत रणधीर-प्रेम-मोहिनी या पंडित केशवराम भट्ट-कृत सज्जाद-संबुल और शमशाद-सौसन नाटक अच्छे तो अवश्य हैं, पर वे प्रायः इतने बड़े हैं कि उनका पूरा पूरा अभिनय नहीं हो सकता। यही, बल्कि इससे भी कुछ और बढ़कर, दशा पंडित बदरीनारायण चौधरी-कृत भारत-सौभाग्य नाटक की है। बाबू तोताराम-कृत केटो-कृतांत या पंडित बालकृष्ण भट्ट के कुछ नाटक हैं सही, पर कई कारणों से उनका भी सर्वसाधारण में कोई विशेष आदर नहीं है। यही बात साहित्याचार्य पंडित अंबिकादत्त व्यास-कृत ललिता नाटिका, वेणीसंहार और गो-संकट आदि नाटकों की है। हिंदी में मृच्छकटिक नाटक के तीन अनुवाद हैं, पर उनमें से एक भी रंगशाला के योग्य न होने के कारण सर्वप्रिय नहीं हो सका। बाबू राधाकृष्णदास के महाराणा प्रताप

नाटक का कुछ आदर अवश्य हुआ है, किंतु नाट्य-शास्त्र की दृष्टि से तथा अभिनयशीलता के विचार से उसमें बहुत त्रुटियाँ हैं। इन नाटकों के अतिरिक्त हिंदी में कुछ और मौलिक या संस्कृत से अनूदित नाटक भी हैं जो विशेष उल्लेख योग्य नहीं जान पड़ते। राय बहादुर लाला सीताराम बी० ए० ने संस्कृत के कई नाटकों का अनुवाद किया है, पर वे अनुवाद बहुत अच्छे नहीं हुए हैं। स्वर्गवासी पंडित सत्य-नारायण कविरत्न-कृत मालतीमाधव और उत्तररामचरित के अनु-वाद स्थायी साहित्य में स्थान पाने योग्य अवश्य हैं। भारतेंदुजी के कुछ काल अनंतर हिंदी में अनुवाद की धूम मची और बँगला से अनेक उपन्यासों तथा नाटकों के अनुवाद प्रकाशित हुए। विशेषत: काशी के भारत-जीवन प्रेस से ऐसे कई नाटकों के अनुवाद निकले। इधर कुछ दिनों से अनुवादों की संख्या और भी बढ़ गई है जिनमें से विशेष उल्लेख योग्य बँगला के सुप्रसिद्ध नाटककार श्रीयुक्त द्विजेंद्र-लाल राय तथा गिरीश घोष के नाटकों के अनुवाद हैं। राय महाशय के प्राय: सभी नाटकों के सुंदर अनुवाद बंबई के हिंदी-ग्रंथ-रत्नाकर कार्यालय से प्रकाशित हुए हैं। इधर दस बीस वर्षों के भीतर हिंदी में कुछ मौलिक नाटक बने हैं। इनमें स्वर्गीय मास्टर विश्वंभर-सहाय 'व्याकुल' का गौतमबुद्ध नाटक सर्वोत्तम है। यह नाटक भाषा, भाव, रस, वस्तु, अभिनयशीलता तथा चरित्र-चित्रण आदि के विचार से हिंदी-साहित्य में अद्वितीय है। खेद है कि अधिकारियों ने अभी तक उसे प्रकाशित नहीं कराया है। इसके अनंतर पंडित राधेश्याम 'कविरत्न' तथा नारायणप्रसाद 'बेताब' पौराणिक नाटकों के लिये और बाबू हरिकृष्ण जौहर सामाजिक नाटकों के लिये अत्यंत प्रसिद्ध हैं। इन तीनों नाटककारों ने पारसी रंगमंच की बिलकुल काया पलट दी है और उर्दू नाटकों के स्थान पर हिंदी नाटकों को स्थान दिलाया है। इन तीनों में पंडित राधेश्याम की भाषा सबसे

अधिक परिमार्जित और सुव्यवस्थित है। इन तीनों नाटककारों के नाटकों ने रंगमंच पर पूर्ण सफलता प्राप्त की है और जनता की चित्त-वृत्ति बदल दी है। पंडित राधेश्याम के वीर अभिमन्यु, परमभक्त प्रह्लाद, श्रीकृष्ण-अवतार और रुक्मिणी-मंगल नाटक, पंडित नारायणप्रसाद 'बेताब' के महाभारत और रामायण तथा बाबू हरिकृष्ण 'जौहर' के पति-भक्ति आदि नाटक अत्यंत प्रसिद्ध हैं। राजनीतिक नाटक लिखनेवालों में किशनचंद ज़ेबा का नाम प्रसिद्ध है, किंतु उनके नाटकों में उर्दू-पन भरा रहता है। उनके ज़ख्मी पंजाब, पद्मिनी, ज़ख्मी हिंदू, शहीद संन्यासी, कबीर और महाराणा प्रताप आदि नाटक उल्लेखनीय हैं। इधर कुछ वर्षों से काशी के बाबू जयशंकरप्रसाद ने साहित्य के इस अंग की पूर्ति की ओर विशेष ध्यान दिया है और उनको मौलिक नाटक लिखने में सफलता भी हुई है; किंतु उनके नाटकों में सबसे बड़ा दोष यह है कि वे रंगमंच के योग्य नहीं होते। उनकी भाषा भी ठेठ साहित्यिक होती है। उनके लिखे हुए नाटकों में से अजातशत्रु, जनमेजय, स्कंदगुप्त, चंद्रगुप्त और विशाख आदि नाटक बहुत अच्छे हैं। इसमें संदेह नहीं कि साहित्यिक दृष्टि से 'प्रसादजी' के नाटक उत्तम कोटि के हैं।

जहाँ नाटकों का ही अभाव हो, वहाँ नाटक-मंडलियों और प्रेक्षागृहों के अभाव का क्या पूछना है। बँगला, मराठी और गुज-

हिंदी प्रेक्षागृह

राती भाषा-भाषियों ने बहुत दिनों से अपनी अपनी भाषा में अच्छे अच्छे मौलिक नाटकों की रचना आरंभ कर रखी है और उन नाटकों के साथ ही साथ अपने अपने ढंग के प्रेक्षागृह भी स्थापित कर लिए हैं। उनकी अनेक अच्छी अच्छी नाटक-मंडलियाँ भी बहुत दिनों से स्थापित हैं। उन प्रेक्षागृहों और नाटक-मंडलियों को देखने से इस बात का ठीक अनुमान हो सकता है कि उन लोगों ने इस संबंध में कितनी अधिक

उन्नति की है और हिंदी भाषा इस विषय में कितनी पिछड़ी हुई है। हम पहले कह चुके हैं कि भारत में आधुनिक ढंग के प्रेक्षागृहों और नाटक-मंडलियों की स्थापना बहुत थोड़े दिन पहले से, अर्थात् गत शताब्दी के प्राय: मध्य में, आरंभ हुई है। इन पचास-साठ वर्षों में ही यहाँ अँगरेजी ढंग के प्रेक्षागृह बनने लगे हैं और उसी ढंग पर नाटक होने लगे हैं। बँगला, मराठी और गुजराती के प्रेक्षागृहों और नाटक-मंडलियों आदि का आरंभ और विकास इन्हीं थोड़े दिनों में हुआ है। यद्यपि उसी समय के लगभग पहले पहल आधुनिक ढंग के प्रेक्षागृहों में हिंदी नाटकों का भी प्रवेश हुआ था, तथापि हिंदी के दुर्भाग्य से लोगों ने इस ओर विशेष ध्यान नहीं दिया, जिसके कारण आजकल हिंदी में नाटकों की दशा इतनी गिरी हुई है। यदि यह बात न होती तो आज हिंदी के नाटक भी अन्यान्य भारतीय भाषाओं के नाटकों के समान बहुत उन्नत दशा में होते। सबसे पहले बनारस के 'बनारस थिएटर' में सन् १८६८ में पंडित शीतलाप्रसाद त्रिपाठी का बनाया हुआ जानकी-मंगल नाटक बहुत धूमधाम से खेला गया था। उसकी देखा-देखी प्रयाग और कानपुर के लोगों ने भी अपने अपने यहाँ रणधीर-प्रेममोहिनी और सत्यहरिश्चंद्र का अभिनय किया था। पर इसके उपरांत हिंदी में अच्छे नए नाटकों के न बनने के कारण प्रेक्षागृहों में हिंदी का प्रवेश न हो सका और हिंदी भाषा-भाषी प्राय: पारसी थिएटरों के उर्दू नाटक देखकर ही संतुष्ट रहने लगे। कदाचित् यहाँ यह बतलाने की आवश्यकता न होगी कि बँगला, मराठी या गुजराती आदि के नाटकों को देखते हुए पारसी थिएटरों के उर्दू नाटक कितने अधिक कुरुचिपूर्ण और निकृष्ट होते हैं। पर फिर भी हिंदी भाषा-भाषी उन्हीं नाटकों को देखकर अपने आपको धन्य माना करते थे। इधर कुछ वर्षों से पारसी कंपनियों के थिएटरों

में भी हिंदी का प्रवेश हो चला है और दिन पर दिन उनमें खेले जानेवाले हिंदी नाटकों की संख्या बढ़ती जाती है। अब तो कुछ ऐसी व्यवसायी मंडलियाँ भी तैयार हो गई हैं जो बहुधा हिंदी के ही नाटक खेला करती हैं। पारसी कंपनियों में तो अब कदाचित् ही कोई ऐसी हो जो दो चार हिंदी नाटक न खेलती हो। इस प्रशंसनीय कार्य के उद्योगी सज्जनों के नाम हम ऊपर ही बता चुके हैं। इधर हिंदी में मौलिक नाटकों की रचना आरंभ हो चली है और आशा है कि थोड़े ही दिनों में हिंदी भी नाट्य-कला के क्षेत्र में भारत की अन्य भाषाओं के समकक्ष हो जायगी।

दूसरा अध्याय

रूपक का परिचय

किसी भी अवस्था के अनुकरण को नाट्य कहते हैं। यह अनुकरण चार प्रकार के अभिनयों द्वारा अनुकार्य और अनुकर्त्ता की एकता प्रदर्शित करने से पूर्ण होता है। नाटक के पात्र-विशेष के साथ एकत्व दिखाने के लिये अभिनेता को उठना, बैठना, चलना, फिरना इत्यादि सब व्यवहार उसी के समान करना चाहिए। उसी के समान बोलना चाहिए, उसी के समान वस्त्राभूषण पहनने चाहिएँ और उसी के समान अनुभूति भी दिखलानी चाहिए। आचार्यों ने इन चार प्रकार के अभिनयों के (१) आंगिक, (२) वाचिक, (३) आहार्य, और (४) सात्त्विक—इस प्रकार नामकरण किए हैं।

नाट्य

(१) आंगिक—अर्थात् अंगों द्वारा संपादनीय अभिनय; जैसे—चलना, फिरना, उठना, बैठना, लेटना आदि।

(२) वाचिक--अर्थात् वाणी से कहकर किया जानेवाला।

(३) आहार्य—अर्थात् वेश-भूषा धारण करके किया जानेवाला।

(४) सात्त्विक—अर्थात् सात्त्विक भावों को प्रदर्शित करनेवाला; जैसे—हँसना, रोना और स्तंभ, स्वेद, रोमांच आदि सात्त्विकों का भाव प्रदर्शित करके अनुभूति का अभिनय करना।

श्रव्य काव्य में जो स्थान शब्दों से वर्णित भिन्न भिन्न प्रकार के अनुभावों आदि का है, दृश्य काव्य में वही स्थान इन चारों प्रकार के अभिनयों द्वारा प्रदर्शित अनुकरण का है। इन चारों प्रकारों

से किसी पात्र का अनुकरण करने से अभिनय देखनेवालों में यह भाव उत्पन्न हो जाता है कि जो कुछ हम देख रहे हैं वह वास्तविक है, कृत्रिम नहीं। यदि इस प्रकार की प्रतीति उत्पन्न न कराई जा सके, तो यह कहना पड़ेगा कि अभिनय ठीक नहीं हुआ। पर इतने ही से अभिनय की इति-कर्त्तव्यता नहीं हो जाती। यह अनुकृति ऐसी होनी चाहिए कि उपर्युक्त प्रतीति के साथ ही साथ सामाजिकों में किसी न किसी प्रकार के रस का उद्रेक हो। विना रस की निष्पत्ति के दृश्य काव्य का वास्तविक रूप स्पष्ट नहीं हो सकता। मनुष्य के अंतःकरण में कुछ भाव वर्त्तमान रहते हैं, जो प्रायः सुषुप्त अवस्था में होते हैं। अनुकूल स्थिति पाकर वे उद्दीप्त हो उठते हैं और सामाजिकों में रस का उद्रेक करते हैं। यह अनुकूल स्थिति ऊपर कहे हुए अनुकरण से उपस्थित हो जाती है। श्रव्य काव्य में इस स्थिति को उत्पन्न करनेवाले कारण केवल 'शब्द' होते हैं, पर दृश्य काव्य में चारों प्रकार के अभिनयों द्वारा नायक आदि पात्रों की अवस्थाओं का प्रत्यक्ष अनुभव होता है। इसी लिये दृश्य काव्य अधिक और स्थायी प्रभाव उत्पन्न करने में समर्थ होता है। यही बात हम यों भी कह सकते हैं कि श्रव्य काव्य का आनंद लेने में केवल श्रवणेंद्रिय सहायक होती है, परंतु दृश्य काव्य में श्रवणेंद्रिय के अतिरिक्त चक्षुरिंद्रिय भी सहायता देती है। चक्षुरिंद्रिय का विषय रूप है; और दृश्य काव्य के रसास्वादन में इसी इंद्रिय के विशेष सहायक होने के कारण ऐसे काव्यों को 'रूपक' कहना सर्वथा उपयुक्त है।

रूपक के उपकरण

नाट्य-शास्त्रकारों ने रूपक के सहायक या उपकरण नृत्य और नृत्त भी माने हैं। किसी भाव को प्रदर्शित करने के लिये व्यक्ति-विशेष के अनुकरण को नृत्य कहते हैं। इसमें आंगिक अभिनय की अधिकता रहती है। लोग इसे नक़ल या तमाशा कहते हैं। अभिनय-रहित केवल नाचने

को नृत्त कहते हैं। जब इन दोनों के साथ गीत और कथन मिल जाते हैं, तब रूपक का पूर्ण रूप उपस्थित हो जाता है। शास्त्रकारों का कहना है कि नृत्य भावों के आश्रित और नृत्त ताल तथा लय के आश्रित रहते हैं; और रूपक रसों के आश्रित होते हैं। जिस प्रकार रसों का संचार करने में अनुभाव, विभाव आदि सहायक होते हैं, उसी प्रकार नाटकीय रस की परिपुष्टि में नृत्य और नृत्त आदि भी सहायक का काम देते हैं। इन्हीं बातों को ध्यान में रखकर रूपकों के दो भेद किए गए हैं—एक रूपक और दूसरे उपरूपक। रूपकों में रस की प्रधानता रहती है और उपरूपकों में नृत्य, नृत्त आदि की। नृत्य 'मार्ग' (संपूर्ण देश में एक समान) और नृत्त 'देशी' (भिन्न भिन्न देशों में भिन्न भिन्न प्रकार का) कहलाता है।

नृत्त दो प्रकार का होता है—तांडव और लास्य। लक्षण-ग्रंथों के अनुसार तांडव का आविष्कार शिव ने और लास्य का पार्वती ने किया है। तांडव का प्रधान गुण उद्धटता और लास्य का मधुरता है। इनका रूपकों से प्रायः विशेष संबंध नहीं रहता। केवल शोभा के लिये नाटक आदि के आरंभ में इनका प्रयोग होता था। धनंजय के अनुसार भी ये दोनों प्रकार के नृत्त केवल शोभा के लिये प्रयुक्त होते हैं। परंतु लास्य के भेदों तथा लक्षणों से ही पता चलता है कि वे नाटक के बीच में भी आ सकते हैं। लास्य के दस भेद कहे गए हैं। यथा—

नृत्त के भेद

(१) गेय-पद—वीणा, तानपूरा आदि यंत्रों को सामने रखकर आसन पर बैठे हुए स्त्री या पुरुष का गान।

(२) स्थित-पाठ्य—मदन से संतप्त नायिका का बैठकर स्वाभाविक पाठ करना। कुछ लोगों के मत से क्रुद्ध तथा भ्रांत स्त्री-पुरुषों का प्राकृत पाठ भी स्थित-पाठ्य ही कहा जायगा।

(३) आसीन पाठ्य—शोक और चिंता से युक्त अभूषितांगी कामिनी का किसी बाजे के विना बैठकर गाना।

(४) पुष्पगंडिका—बाजे के साथ अनेक छंदों में स्त्रियों द्वारा पुरुषों का, और पुरुषों द्वारा स्त्रियों का अभिनय करते हुए गाना।

(५) प्रच्छेदक—प्रियतम को अन्य नायिका में आसक्त जानकर प्रेम-विच्छेद के अनुताप से तप्त-हृदया नायिका का वीणा के साथ गाना।

(६) त्रिगूढ़—स्त्री का वेश धारण किए हुए पुरुष का कोमल, मृदु-मधुर नाट्य।

(७) सैंधव—नायिका के संकेत-स्थान पर न पहुँचने से संकेत-भ्रष्ट पुरुष का वीणा आदि के साथ प्राकृत-गान।

(८) द्विगूढ़—वह गीत जिसमें सब पद सम और सुंदर हों, संधियाँ वर्त्तमान हों तथा रस और भाव सुसंपन्न हों।

(९) उत्तमोत्तमक—कोप अथवा प्रसन्नताजनक, आक्षेपयुक्त, रसपूर्ण, हाव और भाव से संयुक्त, विचित्र पद्य-रचना-युक्त गान।

(१०) उक्तप्रत्युक्त—उक्ति-प्रत्युक्ति से युक्त, उपालंभ के सहित, अलीक (अप्रिय या मिथ्या) सा प्रतीत होनेवाला विलासपूर्ण अर्थ से सुसंपन्न गान।

ऊपर लास्य के जिन दस अंगों का वर्णन किया गया है उनपर सूक्ष्म विचार करने से यह स्पष्ट होता है कि इनमें से अधिकांश का संबंध केवल गायन से है, नृत्त से नहीं। केवल पुष्पगंडिका और त्रिगूढ़ में नाट्य का संकेत है और इसलिए वे नृत्त के अंतर्गत न आकर नृत्य के अंतर्गत आते हैं, क्योंकि नृत्त में एक प्रकार से अभिनय का अभाव रहता है। इस अवस्था में यह मानना पड़ेगा कि ये लास्य नृत्त के भेद नहीं, केवल अंगमात्र हैं; अर्थात् इनकी सहकारिता और सहयोगिता से लास्य नृत्त की सार्थकता स्पष्ट होती है।

रूपक के भेद

रूपक के दस भेद होते हैं—(१) नाटक, (२) प्रकरण, (३) भाण, (४) प्रहसन, (५) डिम, (६) व्यायोग, (७) समवकार, (८) वीथी, (९) अंक और (१०) ईहामृग।

रूपकों के अतिरिक्त नाट्याचार्यों ने १८ उपरूपक भी माने हैं—(१) नाटिका, (२) त्रोटक, (३) गोष्ठी, (४) सट्टक, (५) नाट्यरासक, (६) प्रस्थान, (७) उल्लाप्य, (८) काव्य, (९) प्रेंखण, (१०) रासक, (११) संलापक, (१२) श्रीगदित, (१३) शिल्पक, (१४) विलासिका, (१५) दुर्मल्लिका, (१६) प्रकरणिका, (१७) हल्लीश और (१८) भाणिका।

इन भेदों और उपभेदों के विषय में हम आगे चलकर लिखेंगे।

रूपकों के तत्त्व

रूपकों के जो भेद किए गए हैं, वे तीन आधारों पर स्थित हैं; अर्थात् वस्तु, नायक और रस। इन्हीं को रूपकों के तत्त्व भी कहते हैं। हम इन तीनों तत्त्वों का यथाक्रम विवेचन करेंगे।

तीसरा अध्याय

वस्तु का विन्यास

किसी दृश्य काव्य के कथानक को वस्तु कहते हैं। वस्तु दो प्रकार की होती हैं—(१) आधिकारिक और (२) प्रासंगिक। मूल कथावस्तु को आधिकारिक और गौण कथा-

वस्तु-भेद

वस्तु को प्रासंगिक कहते हैं। प्रासंगिक कथा-वस्तु का उद्देश्य आधिकारिक कथावस्तु की सौंदर्य-वृद्धि करना और मूल कार्य या व्यापार के विकास में सहायता देना है। रूपक के प्रधान फल का स्वामित्व अर्थात् उसकी प्राप्ति की योग्यता "अधि-कार" कहलाती है। उस फल का स्वामी अर्थात् उसे प्राप्त करने-वाला "अधिकारी" कहलाता है। उस अधिकारी की कथा को आधिकारिक वस्तु कहते हैं। इस प्रधान वस्तु के साधक इतिवृत्त को प्रासंगिक वस्तु कहते हैं; जैसे रामायण में रामचंद्र का चरित्र आधिकारिक वस्तु और सुग्रीव का चरित्र प्रासंगिक वस्तु है। प्रासं-गिक वस्तु में दूसरे की अर्थ-सिद्धि होती है और प्रसंग से मूल नायक का स्वार्थ भी सिद्ध होता है। प्रासंगिक कथावस्तु के दो भेद हैं—पताका और प्रकरी। जब कथावस्तु सानुबंध होती है, अर्थात् बरा-बर चलती रहती है, तब उसे "पताका" कहते हैं; और जब वह थोड़े काल तक चलकर रुक जाती है या समाप्त हो जाती है, तब उसे "प्रकरी" कहते हैं; जैसे शकुंतला नाटक के छठे अंक में दास और दासी की बातचीत है। प्रासंगिक वस्तु में चमत्कार-पूर्ण धारा-वाहिकतालाने के लिये "पताका-स्थानक" का प्रयोग किया जाता है।

जहाँ प्रयोग करनेवाले पात्र को कुछ और ही कार्य अभिलषित हो, परंतु सदृश संविधान अथवा विशेषण के कारण किसी नए पदार्थ या भाव के वश होकर कोई दूसरा ही कार्य हो जाय, अर्थात् जहाँ प्रस्तुत भाव एक हो और आगंतुक भाव कुछ और ही कार्य करा डाले, वहाँ "पताका-स्थानक" होता है। संक्षेप में इसका भाव यही है कि जहाँ करना कुछ हो, परंतु किसी कारण के अकस्मात् आ जाने से और ही कुछ करना पड़े, वहाँ अथवा उस कार्य को पताका-स्थानक कहते हैं। साहित्य-दर्पणकार के अनुसार यह चार प्रकार का है—

पताका-स्थानक

(१) जहाँ किसी प्रेमयुक्त उपचार से सहसा कोई बड़ी इष्टसिद्धि हो जाय। जैसे, रत्नावली नाटिका में सागरिका वासवदत्ता का रूप धारण करके संकेत-स्थान को गई थी। पर जब उसे यह ज्ञात हुआ कि वासवदत्ता पर यह भेद खुल गया, तब वह फाँसी लगाकर अपने प्राण देने को उद्यत हुई। उसी समय राजा वहाँ पहुँच गया और उस छद्मवेषधारिणी सागरिका को वास्तविक वासवदत्ता समझकर उसकी फाँसी छुड़ाने लगा। उसी समय उसकी बोली पहचानकर वह बोल उठा कि 'क्या यह मेरी प्रिया सागरिका है!' यहाँ राजा का व्यापार वासवदत्ता को बचाने के लिये था; परंतु उसने वास्तव में बचाया सागरिका को जो उसे बहुत प्यारी थी। यह पहले प्रकार का पताका-स्थानक है।

(२) जहाँ अनेक चतुर वचनों से गुंफित और अतिशय श्लिष्ट वाक्य हों, वहाँ दूसरे प्रकार का पताका-स्थानक होता है। जैसे वेणीसंहार नाटक में सूत्रधार कहता है—

रक्तप्रसाधितभुवः क्षतविग्रहाश्च
स्वस्था भवंतु कुरुराजसुताः सभृत्याः।

इस श्लोक का स्पष्ट भाव तो यही है कि जिन्होंने भूमि को अनुरक्त और विजित कर लिया है और जिनका विग्रह (झगड़ा) क्षत (नष्ट) हो गया है, वे कौरव अपने भृत्यों के साथ स्वस्थ हों। परंतु शब्दों के श्लिष्ट होने के कारण इस श्लोक का यह अर्थ भी होता है कि जिन्होंने (अपने) रक्त से पृथ्वी को प्रसाधित (रंजित) कर दिया है—रँग दिया है—और जिनके विग्रह (शरीर) क्षत हो गए हैं, ऐसे कौरव स्वस्थ (स्वर्गस्थ) हों। यहाँ श्लेष से बीजभूत अर्थ (कौरवों के नाश) का प्रतिपादन होकर नायक का मंगल सूचित हुआ।

(३) जो किसी दूसरे अर्थ को सूचित करनेवाला, अव्यक्तार्थक तथा विशेष निश्चय से युक्त वचन हो और जिसमें उत्तर भी श्लेषयुक्त हो, वह तीसरा पताका-स्थानक है। जैसे वेणीसंहार नाटक में—

(प्रविश्य संभ्रान्ततः)

राजा—लोकाशुकस्य पवनाकुलितांशुकान्तम्

त्वद्दृष्टिहारि मम लोचनबान्धवस्य।

अध्यासितं च सुचिरं जघनस्थलस्य

पर्याप्तमेव करभोरु ! ममोरुयुग्मम् ॥

कंचुकी—देव, भग्नम् भग्नम्।

राजा—केन ?

कंचुकी—भीमेन।

राजा—कस्य ?

कंचुकी—भवतः।

राजा—आः किं प्रलपसि !......

इसमें दुर्योधन के 'ममोरुयुग्मम्' अर्थात् मेरी युगल जंघा कहने के साथ ही कंचुकी का 'देव, भग्नम् भग्नम्' अर्थात् 'देव, टूट गई, टूट गई' कहने से दुर्योधन के ऊरुभंग का अर्थ सूचित होता है।

(४) जहाँ सुंदर श्लेषयुक्त या द्व्यर्थक वचनों का विन्यास हो और जिसमें प्रधान फल की सूचना होती हो, वहाँ चौथा पताका-स्थानक होता है। जैसे रत्नावली नाटिका में राजा का यह कहना कि 'आज मैं इस लता को अन्य कामिनी के समान देखता हुआ देवी के मुख को क्रोध से लाल बनाऊँगा।' यहाँ श्लेषयुक्त वाक्यों द्वारा आगे होनेवाली बात की सूचना दी गई है; अर्थात् यह सूचित किया गया है कि राजा का सागरिका पर प्रेम होगा और क्रोध से वासवदत्ता का मुख लाल हो जायगा।

ये चारों पताका-स्थानक किसी संधि में मंगलार्थक और किसी में अमंगलार्थक होते हैं, किंतु होते सब संधियों में हैं। इस ऊपर के विवरण से स्पष्ट है कि पताका-स्थानक अवस्था या वचन के कारण निश्चित होते हैं। केवल पहले पताका-स्थानक में अवस्था का विपर्यय ही इसे उपस्थित करता है; परंतु शेष तीनों में वचनों का श्लेष इसका मूल कारण है।

वस्तु की अर्थ-प्रकृति

अर्थ-प्रकृति—कथावस्तु को प्रधान फल की प्राप्ति की ओर अग्रसर करनेवाले चमत्कार-युक्त अंशों को 'अर्थ-प्रकृति' कहते हैं। साधारणत: यह कहा जा सकता है कि पाँच प्रकार की अर्थ-प्रकृतियाँ वस्तु-कथानक के तत्त्व हैं। मानव-जीवन का उद्देश्य अर्थ, धर्म और काम की प्राप्ति है। नाटक के अर्थ में प्रदर्शित इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये जो उपाय किए जायँ, वे ही अर्थ-प्रकृति हैं। इनके पाँच भेद इस प्रकार हैं—

(१) वीज—मुख्य फल का हेतु वह कथाभाग, जो क्रमश: विस्तृत होता जाता है, 'बीज' कहलाता है। इसका पहले बहुत ही सूक्ष्म कथन किया जाता है, परंतु ज्यों ज्यों व्यापार-शृंखला आगे बढ़ती जाती है त्यों त्यों इसका भी विस्तार होता जाता है। जैसे रत्नावली के प्रथम अंक में यौगंधरायण के ये वाक्य—

"यह सच है, इसमें कुछ संदेह नहीं—

द्वीपन जलनिधि-मध्य सों, अरु दिगंत सों लाय।
मनचाही अनुकूल विधि, छन महँ देति मिलाय॥

जो ऐसा न होता तो ये अनहोनी बातें कैसे होतीं। सिद्ध की बातों का विश्वास करके मैंने सिंहल द्वीप के राजा की कन्या अपने महाराज के लिये माँगी; और जब उसने भेजी तो जहाज टूट गया। वह डूबने लगी। फिर एक तख्ते के सहारे बह चली। संयोग से उसी समय कौशांबी के एक महाजन ने, जो सिंहल द्वीप से फिरा आ रहा था, उसे बहते देखा। उसके गले की रत्नमाला से महाजन ने जाना कि यह किसी बड़े घर की लड़की है। वह उसे यहाँ लाया। (प्रसन्न होकर) सब प्रकार हमारे स्वामी की बढ़ती होती है। (विचारकर) और मैंने भी उस कन्या को बड़े गौरव से रानी को सौंपा है; यह बात अच्छी हुई। अब सुनने में आया है कि हमारे स्वामी का कंचुकी वाभ्रव्य और सिंहलेश्वर का मंत्री वसूभूति भी, जो राजकन्या के साथ आते थे, किसी प्रकार डूबते-उतराते किनारे लगे हैं। अब वे सेनापति रुमण्वान् से, जो कोशलपुरी जीतने गया था, मिलके यहाँ आ पहुँचे हैं। इन बातों से हमारे स्वामी के सब कार्य सिद्ध हुए से प्रतीत होते हैं, तथापि मेरे जी को धैर्य नहीं होता है। अहा, सेवक का धर्म बड़ा कठिन है, क्योंकि—

यद्यपि स्वामिहिं के हित-कारण मैंने सबै यह काज कियो है।
देखहु तौ यह भाग की बात सुदैव ने आय सहाय दियो है॥
सिद्धहु होयगो, संसय नाहिं, सदा निहचै मन माँह लियो है।
तौहू कियो अपने चित सों, यह सोचि डरै सब काल हियो है॥"

(२) बिंदु—जो बात निमित्त बनकर समाप्त होनेवाली अवांतर कथा को आगे बढ़ाती है और प्रधान कथा को अविच्छिन्न रखती है, वह 'बिंदु' कहलाती है। जैसे, रत्नावली नाटिका में अनंगपूजा के अनंतर राजा की पूजा हो चुकने पर कथा समाप्त होने को थी, पर सागरिका विदूषक के ये वचन—

"सूरज अस्ताचलहिं सिधारे।
साँझ समय के सभाभवन में, नृपगण आए सारे॥
ससि-सम उदय होहिं उदयन सबकी आँखिन के तारे।
चाहत है, कमलन द्युतिहर, सेवहिँ पद-कमल तुम्हारे॥"

सहर्ष सुनकर और राजा की ओर चाव से देखकर कहती है—"क्या यही वह उदयन राजा है जिसके लिये पिता ने मुझे भेजा था? (लंबी साँस लेकर) पराधीनता से क्षीण होने पर भी मेरा शरीर इसे देखकर फूल सा खिल गया।" इस प्रकार उसके ये वचन कथा को आगे बढ़ाते हैं।

(३) पताका—इसका लक्षण पहले लिखा जा चुका है; जैसे रामायण में सुग्रीव की, वेणी-संहार में भीमसेन की और शकुंतला में विदूषक की कथा। पताका नामक कथांश के नायक का अपना कोई भिन्न फल नहीं होता। प्रधान नायक के फल को सिद्ध करने के लिये ही उसकी समस्त चेष्टाएँ होती हैं। गर्भ या विमर्श-संधि में उसका निर्वाह कर दिया जाता है; जैसे सुग्रीव की राज्य-प्राप्ति।

(४) प्रकरी—इसका वर्णन पहले हो चुका है। प्रसंगागत तथा एकदेशीय अर्थात् छोटे छोटे वृत्त प्रकरी कहलाते हैं; जैसे रामायण में रावण और जटायु का संवाद। प्रकरी-नायक का भी कोई स्वतंत्र उद्देश्य नहीं होता।

(५) कार्य—जिसके लिये सब उपायों का आरंभ किया जाय और जिसकी सिद्धि के लिये सब सामग्री इकट्ठी की गई हो, वह कार्य है; जैसे रामायण में रावण का वध, अथवा रत्नावली नाटिका में उदयन और रत्नावली का विवाह।

अवस्था—प्रत्येक रूपक में कार्य या व्यापार-शृंखला की पाँच अवस्थाएँ होती हैं; अर्थात् (१) 'आरंभ'—जिसमें किसी फल की प्राप्ति के लिये औत्सुक्य होता है। (२) 'प्रयत्न'—जिसमें उस फल की

प्राप्ति के लिये शीघ्रता से उद्योग किया जाता है। (३) 'प्राप्त्याशा' अथवा 'प्राप्तिसंभव'—जिसमें सफलता की संभावना जान पड़ती है, यद्यपि साथ ही विफलता की आशंका भी बनी रहती है। (४) 'नियताप्ति'—जिसमें सफलता का निश्चय हो जाता है। (५) 'फलागम'—जिसमें सफलता प्राप्त हो जाती है और उद्देश्य की सिद्धि के साथ ही अन्य समस्त वांछित फलों की प्राप्ति भी हो जाती है। उदाहरण के लिये रत्नावली नाटिका में कुमारी रत्नावली को अंत:पुर में रखने के लिये मंत्री यौगंधरायण की उत्कंठा अथवा अभिज्ञान-शाकुंतल में राजा दुष्यंत की शकुंतला को देखने की उत्कंठा, जो कार्य के आरंभ की अवस्था है। रत्नावली में दर्शन का कोई दूसरा उपाय न देखकर रत्नावली का वत्सराज उदयन का चित्र-लेखन और शाकुंतल में राजा दुष्यंत की पुन: मिलने का उपाय निकालने के लिये उत्सुकता 'प्रयत्न' अवस्था के अंतर्गत है। रत्नावली में सागरिका का छद्म वेश-धारण और अभिसरण सफलता प्राप्त करने के उपाय हैं; पर साथ ही भेद खुल जाने की आशंका भी वर्त्तमान है। इसी प्रकार शाकुंतल में दुर्वासा के शाप की कथा तथा उनका प्रसन्न होकर उसकी शांति की अवधि बताना 'प्राप्त्याशा' अवस्था है। रत्नावली में राजा का यह समझ लेना कि बिना वासवदत्ता को प्रसन्न किए मैं सफल-मनोरथ नहीं हो सकता तथा शाकुंतल में धीवर से राजा का मुँदरी पाना 'नियताप्ति' है। अंत में उदयन का रत्नावली को प्राप्त करना और दुष्यंत का शकुंतला से मिलाप हो जाना 'फलागम' है।

कार्य्य की अवस्थाएँ

ये तो कार्य की पाँच अवस्थाएँ हुई जिनका रूपकों में होना आवश्यक है। प्राय: इस बात पर भी विचार किया जाता है कि कार्य की किस अवस्था में रूपक का कितना अंश काम में लाया गया है। साधारणत: सुव्यवस्थित वस्तुवाले रूपक वे ही समझे जाते हैं

जिनमें प्राप्त्याशा अवस्था लगभग मध्य में आती है। पहले का आधा अंश आरंभ तथा प्रयत्न में और पिछला आधा अंश नियताप्ति तथा फलागम में प्रयुक्त किया जाता है।

संधि—ऊपर पाँच अर्थ-प्रकृतियों और पाँच अवस्थाओं का वर्णन हो चुका है। कथात्मक पूर्वोक्त पाँच अवस्थाओं के योग से अर्थ-प्रकृतियों के रूप में विस्तारी कथानक के पाँच अंश हो जाते हैं। एक ही प्रधान प्रयोजन के साधक उन कथाओं का मध्यवर्ती किसी एक प्रयोजन के साथ संबंध होने को 'संधि' कहते हैं। अतः ये पाँच प्रकार की होती हैं—

नाटक-रचना की संधियाँ

(क) मुख-संधि—प्रारंभ नामक अवस्था के साथ संयोग होने से जहाँ अनेक अर्थों और रसों के व्यंजक 'बीज' (अर्थ-प्रकृति) की उत्पत्ति हो वह 'मुख-संधि' है। पहले कहा जा चुका है कि व्यापार-शृंखला में 'प्रारंभ' उस अवस्था का नाम है जिसमें फल की प्राप्ति के लिये औत्सुक्य होता है; और 'बीज' उस अर्थ-प्रकृति को कहते हैं जिसमें संकेत रूप से स्वार्थ-निर्दिष्ट कथाभाग मुख्य प्रयोजन की सिद्धि के लिये क्रमशः विस्तृत होता है। इसी प्रकार 'मुख-संधि' में ये दोनों बातें अर्थात् प्रारंभ अवस्था और बीज अर्थ-प्रकृति का संयोग होकर अनेक अर्थ और रस व्यंजित होते हैं। अवस्थाएँ तो कार्य अर्थात् व्यापार-शृंखला की भिन्न भिन्न स्थितियों की द्योतक हैं; अर्थ-प्रकृतियाँ कथावस्तु के तत्त्वों की सूचक हैं; और संधियाँ नाटक-रचना के विभागों का निदर्शन करती हैं। तीनों बातें एक ही अर्थ की सिद्धि करती हैं; पर तीनों के नामकरण और विवेचन तीन दृष्टियों से किए गए हैं—एक में कार्य का, दूसरे में वस्तु का और तीसरे में नाटक-रचना का ध्यान रखा गया है। रत्नावली नाटिका में 'प्रारंभ' अवस्था कुमारी रत्नावली को अंतःपुर में रखने के लिये यौगंधरायण की उत्कंठा, 'बीज' अर्थ-प्रकृति यौगंधरायण का व्यापार और 'मुख-संधि' नाटक

के आरंभ से लेकर दूसरे अंक के उस स्थान तक होती है जहाँ कुमारी रत्नावली राजा का चित्र अंकित करने का निश्चय करती है। इसी प्रकार अभिज्ञान-शाकुंतल में प्रथम अंक से आरंभ होकर दूसरे अंक के उस स्थान तक, जहाँ सेनापति चला जाता है, 'मुख-संधि' है। मुख-संधि के नीचे लिखे १२ अंग माने गए हैं—

(१) उपक्षेप—बीज का न्यास अर्थात् बीज के समान सूक्ष्म प्रस्तुत इतिवृत्ति की सूचना का संक्षेप में निर्देश; जैसे, रत्नावली में नेपथ्य से यह कथन—

"द्वीपन जलनिधि-मध्य सों अरु दिगंत सों लाय।
मनचाही अनुकूल विधि, छन महँ देत मिलाय॥"

(२) परिकर—बीज की वृद्धि अर्थात् प्रस्तुत सूक्ष्म इतिवृत्ति का विषय-विस्तार; जैसे, रत्नावली में यौगंधरायण का वह कथन जो बीज अर्थ-प्रकृति के वर्णन में दिया गया है।

(३) परिन्यास—बीज की निष्पत्ति या सिद्धि अर्थात् उस वर्णनीय विषय का निश्चय के रूप में प्रकट करना; जैसे, रत्नावली में यौगंधरायण का यह वचन—

"यद्यपि स्वामिहिं के हित-कारण मैंने सबै यह काज कियो है।
देखहु तौ यह भाग की बात, सुदैव ने आय सहाय दियो है॥
सिद्धहु होयगो, संसय नाहिं, सदा निहचै मन माँह लियो है।
तौहू कियो अपने चित सों, यह सोचि डरै सब काल हियो है॥

(४) विलोभन—गुण-कथन; जैसे, रत्नावली में वैतालिक का सागरिका के विलोभन के लिये उदयन के गुणों का वर्णन; यथा—

"सूरज अस्ताचलहिं सिधारे।
साँझ समय के सभा-भवन में नृपगण आए सारे॥
ससि-सम उदय होहिं उदयन सबकी आँखिन के तारे।
चाहत है कमलन द्युतिहर, सेवहिं पद-कमल तुम्हारे॥"

(५) युक्ति—प्रयोजनों का सम्यक् निर्णय; जैसे, रत्नावली में यौगंधरायण का कहना—

"मैंने भी उस कन्या को बड़े गौरव से रानी को सौंपा है। यह बात अच्छी हुई। अब सुनने में आया है कि हमारे स्वामी का कंचुकी वाभ्रव्य और सिंहलेश्वर का मंत्री वसुभूति भी, जो राजकन्या के साथ आते थे, किसी प्रकार डूबते-उतराते किनारे लगे हैं। अब वे सेनापति रुमण्वान् से, जो कोशलपुरी जीतने गया था, मिलके यहाँ आ पहुँचे हैं।"

(६) प्राप्ति—सुख का मिलना; जैसे, रत्नावली में सागरिका का यह वाक्य—

"क्या यही वह उदयन राजा है जिसके लिये पिता ने मुझे भेजा था? पराधीनता से क्षीण होने पर भी मेरा शरीर इसे देखकर फूल सा खिल गया।"

(७) समाधान—बीज को ऐसे रूप में पुनः प्रदर्शित करना जिससे वह नायक अथवा नायिका को अभिमत प्रतीत हो; जैसे, रत्नावली में वासवदत्ता और सागरिका की बातचीत का प्रसंग—

"वासवदत्ता—यही तो है वह लाल अशोक। तब मेरी पूजा की सामग्री लाओ।

सागरिका—लीजिए, रानी जी, यह सामग्री।

वासवदत्ता—(स्वगत) दासियों ने बड़ी भूल की है। जिसकी आँखों से बचाए रखने का बहुत उद्योग किया है, सागरिका आज उसी की दृष्टि में पड़ा चाहती है। अच्छा तो अब यही कहूँ। (प्रकाश्य) अरी सागरिका, आज सब सखियाँ तो मदन-महोत्सव में लगी हुई हैं। तू सारिका को छोड़कर यहाँ क्यों आ गई? जल्दी वहीं जा और पूजा की सामग्री कांचनमाला को दे जा।

सागरिका—बहुत अच्छा रानीजी! (कुछ चलके मन ही मन) सारिका तो सुसंगता को सौंप ही दी है। अब देखना चाहिए, कामदेव की पूजा यहाँ भी कैसी होती है। अच्छा छिपकर देखूँ।"

(८) विधान—सुख-दुःख का कारण; जैसे, मालतीमाधव में माधव का यह कथन—

"निज जात समै वह फेरि कछू सुठि ग्रीव को जौं ही लखी मम ओर।
मुख सूर्जमुखी के समान लस्यो विलस्यो छवि धारत मंजु अथोर॥
जुग नैन गड़ाइ सनेह सनै निज चारु छुने बरुनीन के छोर।
बस मानों बुझाइ सुधा-विष में हिय घायल कीन्हों कटाच्छ की कोर॥"

(९) परिभव या परिभावना—किसी आश्चर्य-जनक दृश्य को देखकर कुतूहल-युक्त बातों का कथन; जैसे, रत्नावली में सागरिका के ये वचन—

"यह क्या! यह तो अपूर्व कामदेव है। बाप के घर तो इनका चिह्न ही देखा था, यहाँ तो साक्षात् कामदेव उपस्थित हैं। अच्छा यहीं से इनको पुष्पांजलि दूँ।"

(१०) उद्भेद—बीज के रूप में छिपी हुई बात को खोलना; जैसे, रत्नावली में वैतालिक के नेपथ्य-कथन से सागरिका को यह ज्ञात होना कि कामदेव के रूप में छिपे हुए ये ही राजा उदयन हैं।

(११) करण—प्रस्तुत अर्थ का आरंभ; जैसे, रत्नावली में सागरिका का कथन—

"भगवान् कंदर्प को मेरा प्रणाम। आपका दर्शन शुभदायक हो। जो देखने योग्य था, वह मैंने देखा। यह मेरे लिये अमोघ हो। (प्रणाम करके) बड़ा आश्चर्य है कि कामदेव का दर्शन करने पर भी फिर दर्शन की इच्छा होती है। अच्छा जब तक कोई न देखे, मैं चली जाऊँ।"

(१२) भेद—प्रोत्साहन; जैसे, वेणीसंहार में—

"द्रौपदी—नाथ, मेरे अपमान से अति क्रुद्ध होकर बिना अपने शरीर का ध्यान रखे पराक्रम न कीजिएगा; क्योंकि ऐसा कहा है कि शत्रुओं की सेना में बड़ी सावधानी से जाना चाहिए।

"भीम—संग्राम-रूपी ऐसे समुद्र के जल के अंदर विचरण करने में पांडुपुत्र बड़े निपुण हैं, जिसमें एक दूसरे से टक्कर खाकर हाथियों के फटे सिरों से निकले हुए रुधिर और मज्जा में मिले हुए उनके मस्तकों के भेजे रूपी कीच में डूबे हुए रथों के ऊपर पैर रखकर सेना चल रही हो, जिसमें रक्तपान किए हुए सियार अमंगल वाणी से बाजे बजा रहे हों, तथा कबंध नाच रहे हों।"

ये बारहों अंग हमारे आचार्यों की सूक्ष्म भागोपभाग करने की रुचि के सूचक मात्र हैं। सब अंगों का किसी नाटक में निर्वाह होना कठिन है। इसलिये यह भी कह दिया गया है कि उपक्षेप, परिकर, परिन्यास, युक्ति, समाधान और उद्भेद—इन छः अंगों का होना तो आवश्यक है। शेष छः भी रहें तो अच्छा ही है। नहीं तो इन्हीं से मुख-संधि का उद्देश्य सिद्ध हो जायगा।

(ख) प्रतिमुख-संधि—मुख-संधि में दिखलाए हुए बीज का जिसमें कुछ लक्ष्य और कुछ अलक्ष्य रीति से उद्भेद हो, अर्थात् नाटकीय प्रधान फल का साधक इतिवृत्त कभी गुप्त और कभी स्पष्ट हो, उसे 'प्रतिमुख-संधि' कहते हैं। जैसे रत्नावली में वत्सराज और सागरिका के समागम के हेतु इन दोनों के पारस्परिक प्रेम को, जो प्रथम अंक में सूचित कर दिया गया था, सुसंगता और विदूषक ने जान लिया। यह तो उसका लक्ष्य होना हुआ। फिर वासवदत्ता ने चित्रवाली घटना से उसका अनुमान मात्र किया; इससे उसे कुछ अलक्ष्य भी कह सकते हैं। प्रतिमुख-संधि 'प्रयत्न' अवस्था और 'बिंदु' अर्थ-प्रकृति के समान कार्य-शृंखला को अग्रसर करती है। प्रयत्न अवस्था में फल-प्राप्ति के लिये शीघ्रता से उद्योग होता है; बिंदु अर्थ-प्रकृति में कथा अविच्छिन्न रहकर आगे बढ़ती है; तथा प्रतिमुख-संधि में, मुख-संधि में दिए हुए प्रधान फल का किंचिन्मात्र विकास होता है। जैसे रत्नावली नाटिका में सागरिका का चित्र-लेखन और राजा से साक्षात्कार होना प्रयत्न और अनंग-पूजा के

अवसर पर सागरिका का उदयन को देखकर कामदेव समझना तथा फिर उसे पहचानना बीज है। इसी प्रकार प्रतिमुख-संधि सागरिका के चित्र-लेखन से आरंभ होकर दूसरे अंक के अंत तक, जहाँ वासवदत्ता राजा को सागरिका का चित्र देखते हुए पकड़ती और उसपर अपना कोप प्रकट करती है, समाप्त होती है। इस संधि के १३ अंग माने गए हैं—

(१) विलास—आनंद देनेवाले पदार्थ की कामना; जैसे, रत्नावली में सागरिका का यह कथन—

"मन धीरज धर। जिसका पाना सहज नहीं है, उसके पाने के लिये इतना आग्रह क्यों करता है? ......यद्यपि भय से मेरा हाथ काँपता है, तो भी उनका जैसे तैसे चित्र बनाकर देखूँ; क्योंकि इसके सिवा देखने का और उपाय नहीं है।"

(२) परिसर्प—पहले विद्यमान, पीछे खोई हुई या दृष्ट-नष्ट वस्तु की खोज; जैसे, रत्नावली में सागरिका के वचन सुनकर बीज नष्ट सा हो गया था, पर चित्र के मिल जाने पर राजा का यह वचन कि "मित्र, वह कहाँ है; उसे दिखाओ, दिखाओ" उसका पुनरागमन कर देता है।

(३) विधूत—अरति अर्थात् सुखप्रद वस्तुओं का तिरस्कार; जैसे, रत्नावली में सागरिका का वचन—

"हे सखी, हटाओ इन पद्मपत्रों और मृणाल-मालाओं को। इनसे क्या होगा? व्यर्थ क्यों कष्ट उठाती हो? मैं कहती जो हूँ—

मन दुर्लभ जन सों फँस्यों, तन महँ लाज अपार।
ऐसो विषम सनेह करि, मरिबो ही इक सार॥"

(४) शम—अरति का लोप; जैसे, रत्नावली में अपना चित्र देखकर राजा का विदूषक से कहना—

"हे मित्र ! इस कामिनी ने मेरा चित्र बनाया है। इसी से मेरे जी में अपने स्वरूप का अधिक आदर हुआ है। अब भला अपने चित्र को क्यों न देखूँगा ? देखो—

लिखन समय मम चित्र पै, परे भाप-कन आय।
सो प्यारो करतल परस, रहे स्वेद से छाय॥"

इस पर छिपी हुई सागरिका स्वगत कहती है—

"मन, धीरज धर; चंचल मत हो। तेरा मनोरथ भी यहाँ तक न पहुँचा था।"

साहित्य-दर्पणकार ने इस अंग के स्थान पर "तापन" अंग का उल्लेख किया है, जिसका अर्थ उपाय का अदर्शन या अभाव है। इसका उदाहरण वही पद्य दिया गया है, जो ऊपर 'विधूत' अंग में दिया है।

(५) नर्म—परिहास-वचन; जैसे, रत्नावली में सुसंगता और सागरिका की यह बातचीत—

"सुसंगता—सखी, जिसके लिये तुम आई हो, वह सामने है।

सागरिका—(असूया से) मैं किसके लिये आई हूँ !

सुसंगता—(हँसकर) वाह क्या समझ गई ! और काहे के लिये ? चित्रपट के लिये। लेती क्यों नहीं उसे ?"

(६) द्युति या नर्मद्युति—परिहास से उत्पन्न आनंद अथवा दोष छिपानेवाला परिहास; जैसे, रत्नावली में सुसंगता के यह कहने पर कि "प्यारी सखी, तू बड़ी निठुर है। महाराज तेरी इतनी खातिर करते हैं, तो भी तू प्रसन्न नहीं होती।" सागरिका भौं चढ़ाकर कहती है—

"अब भी तू चुप नहीं रहती, सुसंगता।"

(७) प्रगमन—उत्तर-प्रत्युत्तर के उत्कृष्ट वचन; जैसे, रत्नावली में चित्र मिलने पर राजा और विदूषक की यह बातचीत—

"विदूषक—हे मित्र, तुम बड़े भाग्यशाली हो।

राजा—मित्र, यह क्या !

विदूषक—वही है जिसकी अभी बात चल रही थी। चित्रपट में आप ही का चित्र है। नहीं तो कामदेव के बहाने और किसका चित्र खिँच सकता था।

राजा—(हर्ष से हाथ बढ़ाकर) मित्र, दिखाओ।

विदूषक—तुम्हें न दिखाऊँगा, क्योंकि वह कामिनी भी इसमें चित्रित है। बिना इनाम के ऐसा कन्यारत्न दिखाया नहीं जा सकता।

राजा—(हार उतारकर देता है और चित्रपट देखता है। फिर विस्मय से)

कमल कँपावत खेल सों, हित चित अधिक जनाय।
चित्र लिखी सी हंसिनी, मानस पैठत धाय॥

(सुसंगता और सागरिका का प्रवेश)

सुसंगता—मैना तो हाथ न आई, अब बस कदलीकुंज से चित्रपट उड़ा लाती हूँ।

सागरिका—सखी, ऐसा ही कर।

विदूषक—हे मित्र, इस कन्यारत्न को अवनत-मुख करके क्यों चित्रित किया है?

सुसंगता—(सुनकर) सखी, वसंतक बात करता है, इससे महाराज भी निश्चय यहीं हैं। अच्छा कदलीकुंज से छिपकर सुनती हूँ। देखें क्या बातें करतें हैं।

राजा—मित्र, देखो।

कमल कँपावत खेल सों, हित चित अधिक जनाय।
चित्र लिखी सी हंसिनी, मानस पैठत धाय॥

सुसंगता—सखी बड़ी भाग्यवती हो। देखो तुम्हारा प्यारा तुम्हारा ही वर्णन करता है।

सागरिका—(लज्जा से) सखी, क्यों हँसी उड़ाती हो। इस तरह मेरी हलकाई न करो।

विदूषक—(राजा को उँगली लगाकर) सुनते हो, इस कन्यारत्न का मुँह चित्र में अवनत क्यों है?

राजा—मैना ही तो सब सुना गई है।

सुसंगता—सखी, मैना आपका सब परिचय दे गई।

विदूषक—इससे आपकी आँखों को सुख होता है या नहीं ?

सागरिका—न जाने इसके मुख से क्या निकले। सत्य, सत्य, इस समय मैं मृत्यु और जीवन दोनों के बीच में हूँ।

राजा—मित्र, सुख होता है, यह खूब पूछा। देखो—

अति कष्ट सौं याके उरूनि कौं छाड़ि पड़ी मम दीठि नितंब पै जाई।
हठि तासौं निहारि कै छीन कटी त्रिवली की तरंगनि मध्य समाई॥
पुनि धीरेहि धीरेहि लाँघि सोऊ कुच तुंग पै जाइ कै कीन्हीँ चढ़ाई।
अब प्यासी सी ह्वै जल-बिंदु भरी अँखियानि सौं जाइ कै आँख लगाई॥

(८) निरोध—हितरोध अर्थात् हितकर वस्तु की प्राप्ति में रुकावट। साहित्यदर्पण में इसके स्थान में विरोध (=दुःख-प्राप्ति) है। जैसे, रत्नावली में विदूषक के यह कहने पर कि "यह दूसरी वासवदत्ता है।" राजा भ्रम में पड़कर सागरिका का हाथ छोड़ देता है और कहता है—

"दुर पगली, भाग्यवश रत्नावली सी कांतिवाली वह मिली थी। अभी उसे कंठ में डालना ही चाहता था कि इतने में वह हाथ से छूट गई।"

साहित्यदर्पण में 'विरोध' का उदाहरण चंडकौशिक के अंतर्गत राजा का यह वचन है—

"अंधे की तरह मैंने बिना विचारे धधकती हुई आग पर पैर रख दिया।"

(९) पर्युपासन—क्रुद्ध का अनुनय; जैसे, रत्नावली में वासवदत्ता के कुपित होने पर राजा उदयन कहता है—

"देवी, प्रसन्न हो। कोप न करो। मेरा कुछ दोष नहीं है। तुमको मिथ्या आशंका हुई है। तुम्हारे कोप से मैं घबरा गया हूँ, उत्तर नहीं सूझता है।"

(१०) पुष्प—विशेषता-पूर्ण वचन अर्थात् विशेष अनुराग उत्पन्न करनेवाला वचन; जैसे, रत्नावली में सागरिका के हाथों का स्पर्श-सुख पाकर राजा कहता है—

"यह साक्षात् लक्ष्मी है और इसकी हथेली पारिजात के नवदल; नहीं तो पसीने के बहाने इनमें से अमृत कहाँ से टपकता ?"

(११) उपन्यास—युक्ति-पूर्ण वचन; जैसे, रत्नावली में सुसंगता का राजा के प्रति यह वचन—

"महाराज मुझ पर प्रसन्न हैं, यही बहुत है। महाराज किसी तरह की शंका न करें। मैंने ही यह खेल किया है। आभूषण मुझे नहीं चाहिए। मेरी सखी सागरिका मुझ पर यह कहकर अप्रसन्न हो गई है कि तूने मेरा चित्र इस चित्रपट पर क्यों बनाया। आप चलकर उसे जरा मना दीजिए। इतना करने से ही मैं समझ लूँगी कि महाराज मुझ पर बहुत प्रसन्न हैं।"

(१२) वज्र—सम्मुख निष्ठुर वचन; जैसे, रत्नावली में वासवदत्ता चित्रपट की ओर निर्देश करके कहती है—

"आर्यपुत्र, यह दूसरी मूर्ति क्या वसंतकजी की विद्या का फल है ?" फिर वह कहती है—"आर्यपुत्र, इस चित्र को देखकर मेरे सिर में पीड़ा उत्पन्न हो गई है। अच्छा, आप प्रसन्न रहें, मैं जाती हूँ।"

(१३) वर्णसंहार—चारों वर्णों का सम्मेलन; जैसे, महावीरचरित के तीसरे अंक का यह वाक्य—

"यह ऋषियों की सभा है, यह वीर युधाजित् हैं, यह मंत्रियों सहित राजा रोमपाद हैं और यह सदा यज्ञ करनेवाले महाराज जनक हैं।"

अभिनवगुप्ताचार्य का मत है कि 'वर्णसंहार' के 'वर्ण' शब्द से नाटक के पात्र लक्षित होते हैं। अतः पात्रों के सम्मेलन को 'वर्णसंहार' कहना चाहिए, न कि भिन्न भिन्न जाति के लोगों का समागम। रत्नावली के दूसरे अंक में राजा, विदूषक, सागरिका, सुसंगता, वासवदत्ता और कांचनमाला का समागम 'वर्णसंहार' है।

(ग) गर्भ-संधि—इसमें प्रतिमुख-संधि में किंचित् प्रकाशित हुए बीज का बार बार आविर्भाव, तिरोभाव तथा अन्वेषण होता रहता है। इस संधि में प्राप्त्याशा अवस्था और पताका अर्थ-प्रकृति

रहती है। प्राप्त्याशा अवस्था में सफलता की संभावना के साथ ही साथ विफलता की आशंका भी बनी रहती है और पताका अर्थ-प्रकृति में प्रधान फल का सिद्ध करनेवाला प्रासंगिक वृत्तांत रहता है। यदि इस संधि में पताका अर्थ-प्रकृति न हो तो प्राप्त्याशा अवस्था भी उत्पन्न नहीं हो सकती। रत्नावली में गर्भ-संधि तीसरे अंक में होती है। इस अंक की कथा जान लेने से इस संधि का अभिप्राय स्पष्ट हो जायगा। कथा इस प्रकार है—

राजा उदयन सागरिका के विरह में अत्यंत दुखी होता है। विदूषक यह उपाय करता है कि सागरिका वासवदत्ता के वेश में राजा से मिले। वासवदत्ता को इस बात का पता चल जाता है और वह सागरिका पर पहरा बैठा देती है और आप ही उसके स्थान पर आ उपस्थित होती है। विदूषक उसे सागरिका समझकर राजा के पास ले जाता है और राजा भी उसे सागरिका समझकर बड़े प्रेम से उसका स्वागत करता और प्रेमपूर्ण बातें कहता है। वासवदत्ता इन वचनों को सुनकर मारे क्रोध के अपने को सँभाल नहीं सकती और प्रकट होकर राजा पर क्रोध प्रदर्शित करती है तथा उसी दशा में वहाँ से चली जाती है। उधर सागरिका किसी प्रकार पहरेदारों की आँख बचाकर निकल भागती है और वासवदत्ता का वेश धारण किए हुए अशोक वृक्ष की ओर जाती है। उसे यह जानकर बड़ी ग्लानि होती है कि वासवदत्ता पर मेरा सब भेद खुल गया। अतएव वह फाँसी लगाकर अपने प्राण दे देना चाहती है। रानी वासवदत्ता के चले जाने पर राजा उदयन को यह आशंका होती है कि कहीं दुखी और क्रुद्ध होकर रानी अपने प्राण न दे दे। राजा इस आशंका से विचलित होकर रानी को शांत करने के लिये जाता है। मार्ग में वासवदत्ता का रूप धरे हुए सागरिका को फाँसी लगाने का प्रयत्न करते देखकर उसे बचाने को दौड़ता है; और ज्यों ही बचाकर

उससे बात करता है, उसे विदित हो जाता है कि यह वासवदत्ता नहीं, सागरिका है। उसके आनंद का ठिकाना नहीं रहता। वह उससे प्रेमालाप करता है। इसी बीच में रानी वासवदत्ता को पश्चात्ताप होता है कि मैंने व्यर्थ राजा को कटु वचन कहे। अतएव वह राजा को शांत करने के लिये आती है, पर सागरिका से बात करते हुए देखकर उसका क्रोध पुनः भड़क उठता है। वह सागरिका को लताओं से बाँधकर ले जाती है। राजा रानी को समझाने और शांत करने का उद्योग करता है, पर उसकी एक नहीं चलती और वह शोक-सागर की तरंगों में डूबता-उतराता अपने शयनागार की ओर जाता है।

अब यदि प्राप्त्याशा अवस्था, पताका अर्थ-प्रकृति और गर्भ-संधि के लक्षणों को लेकर इस कथा पर विचार किया जाय, तो सब बातें स्पष्ट हो जायँगी। यह बात ध्यान में रखकर इस पर विवेचन करना चाहिए कि रत्नावली नाटिका में इस संधि के साथ पताका अर्थप्रकृति नहीं आती, केवल पताका-स्थानक का आविर्भाव होता है। गर्भ-संधि के १३ अंग माने गए हैं—

(१) अभूताहरण—कपट वचन; जैसे, रत्नावली नाटिका के तीसरे अंक में कांचनमाला की वसंतक के प्रति उक्ति—

"तुम संधि-विग्रह के कार्यों में अमात्य से भी बढ़ गए।"

(२) मार्ग—सच्ची बात कहना; जैसे, रत्नावली में राजा और विदूषक की यह बातचीत—

"विदूषक—प्यारे मित्र, आपकी जय हो। आप बड़े भाग्यवान् हो। आपकी अभिलाषा पूरी हुई।

राजा—(हर्ष से) मित्र प्यारी सागरिका अच्छी तो है ?

विदूषक—(गर्व से) आप स्वयं देख लेंगे कि अच्छी है या नहीं।

राजा—(आनंद से) क्या प्यारी का दर्शन-लाभ भी होगा ?

विदूषक—(अहंकार से) जो अपनी बुद्धि से बृहस्पति को भी हराता है, वही वसंतक जब आपका मंत्री है तो दर्शन-लाभ क्यों न होगा।

राजा—(हँसकर) आश्चर्य क्या है ? आप सब कर सकते हैं। अब विस्तार से कहिए, सुनने की बड़ी इच्छा है।

(विदूषक राजा के कान में सुसंगता की कही हुई सब बातें सुनाता है)

(३) रूप—वितर्क-युक्त वाक्य; जैसे, रत्नावली में राजा का यह कथन—

''जो अपनी स्त्री के समागम का अनादर करते हैं, नई नायिकाओं पर उन कामियों का कैसा पक्षपात होता है।

ताकत तिरछी चकित सी नैन छिपाए लेत।
कंठ लगाई, कुचन रस ताहू लैन न देत॥
'जाऊँ जाऊँ' ही कहत कीन्हे जतन अनेक।
ताहू पै प्यारी लगै अहो काम तव टेक॥

वसंतक ने क्यों देर कर दी ! कहीं रानी वासवदत्ता तो इस भेद को नहीं जान गईं !''

(४) उदाहृति या उदाहरण—उत्कर्ष-युक्त वचन; जैसे, रत्नावली में विदूषक का यह कथन—

"(हर्ष से) आज मेरी बात सुनकर प्रिय मित्र को जैसा हर्ष होगा, वैसा तो कौशांबी का राज्य पाने से भी न हुआ होगा। अच्छा अब चलकर यह शुभ संवाद सुनाऊँ।"

(५) क्रम—जिसकी अभिलाषा हो, उसकी प्राप्ति अथवा किसी के भाव का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना; जैसे, रत्नावली में सागरिका की प्रतीक्षा में बैठा हुआ राजा कहता है—

"(उत्कंठा से स्वगत) प्यारी के मिलने का समय बहुत निकट आ गया है। न जाने तब भी क्यों चित्त अधिक उत्कंठित होता है।"

मिलन समय नियरे भएँ, मदन-ताप अधिकात।
जैसे बरखा के दिवस, धूप अतिहिं बढ़ि जात॥

विदूषक—(सुनकर) अजी सागरिके! देखो महाराज उत्कंठित होकर तुम्हारे ही लिये धीरे धीरे कुछ कह रहे हैं। तुम ठहरो, मैं आगे जाकर महाराज को तुम्हारा संवाद सुनाता हूँ।"

(६) संग्रह—साम-दाम-युक्त उक्ति; जैसे, रत्नावली में राजा का, सागरिका के ले आने पर, विदूषक को साधुवाद कहकर पारितोषिक देना।

(७) अनुमान—किसी चिह्न विशेष से किसी बात का अनुमान करना; जैसे, रत्नावली में राजा की उक्ति—

"राजा—जा मूर्ख, व्यर्थ क्यों हँसी उड़ाता है? तू ही इस अनर्थ का कारण है। प्यारी का मैंने दिन दिन आदर किया है; परंतु आज वह दोष बन पड़ा जो पहले कभी नहीं हुआ था। उच्च प्रेम का पतन असह्य होता है। इससे निश्चय है, वह प्राण दे देगी।

विदूषक—हे मित्र, रानीजी क्रोध में आकर क्या करेंगी, सो तो मैं ऐसा समझता हूँ कि सागरिका का जीना दुष्कर है।"

(८) अधिबल—धोखा; जैसे, रत्नावली में वासवदत्ता का सागरिका का और कांचनमाला का सुसंगता का वेश धारण करने के कारण जब विदूषक धोखे में पड़कर उन्हें राजा के पास ले जाना चाहता है, तब उसके पूर्व कांचनमाला कहती है—

"रानीजी, यही चित्रशाला है। आप ठहरिए; मैं वसंतक से संकेत करती हूँ।"

(९) तोटक—क्रोधी का वचन; जैसे, रत्नावली में वासवदत्ता कहती है—

"उठो उठो आर्यपुत्र। अब भी बनावटी चाटुता का दुःख क्यों भोग रहे हो? कांचनमाले, इस ब्राह्मण को इस लता से बाँधकर ले चल और इस दुर्विनीत छोकरी को भी आगे कर ले।"

(१०) उद्वेग—शत्रु का डर; जैसे, रत्नावली में सागरिका का वचन—

"हा, मुझ पापिनी को इच्छा-मृत्यु भी न मिली।"

(११) संभ्रम—शंका और त्रास। जैसे रत्नावली में वसंतक का वचन—

"यह कौन सी ? रानी वासवदत्ता ! (पुकारकर) मित्र ! बचाओ, बचाओ; देवी वासवदत्ता फांसी लगाकर मरती हैं :"

(१२) आक्षेप—गर्भ-स्थित बीज का स्पष्ट होना; जैसे, रत्नावली में राजा का कहना—

"मित्र, देवी की कृपा के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं देख पड़ता। उसी से हमारी आशा पूर्ण होगी। अतएव यहाँ ठहरने से क्या प्रयोजन निकलेगा ? चलकर देवी को प्रसन्न करूँ।"

साहित्यदर्पण में गर्भ-संधि के १३ अंग माने गए हैं। उसमें आक्षेप अंग नहीं है; 'संभ्रम' के लिये 'विद्रव' शब्द का प्रयोग है और 'प्रार्थना' तथा 'क्षिप्ति' ये दो अंग अधिक हैं। प्रार्थना से भाव, रति, हर्ष और उत्सवों के लिये अभ्यर्थना से, तथा क्षिप्ति से भाव रहस्य का भेद खुलने से है। जो लोग निर्वहण-संधि में प्रशस्ति नामक अंग नहीं मानते, वे गर्भ-संधि में १३ अंग मानते हैं।

(घ) अवमर्श या विमर्श-संधि—गर्भ-संधि की अपेक्षा बीज का अधिक विस्तार होने पर उसके फलोन्मुख होने में जब शाप, क्रोध, विपत्ति या विलोभन के कारण विघ्न उपस्थित होते हैं, तब विमर्श या अवमर्श-संधि होती है। इसमें नियताप्ति अवस्था और प्रकरी अर्थ-प्रकृति होती है। रत्नावली नाटिका के चौथे अंक में, जहाँ अग्नि के कारण गड़बड़ मचता है वहाँ तक, यह संधि है। इसके १३ अंग माने गए हैं—

(१) अपवाद—दोष का फैलना; जैसे, सुसंगता का कहना—

"सुसंगता—'देवी उसे उज्जयिनी ले गई' यह बात फैलाकर आधी रात के समय न जाने वह बिचारी कहाँ हटाई गई।

विदूषक—(उद्वेग सहित) देवी ने यह बड़ा क्रूर काम किया। मित्र, अन्यथा मत सोचो, निश्चय देवी ने उसे उज्जयिनी भेजा है।

राजा—देवी मुझ पर अप्रसन्न हैं।"

(२) संफेट—रोष-भरे वचन (खिसियाली बातें); जैसे, वेणी-संहार में दुर्योधन का वचन—

"अरे भीम, वृद्ध राजा (धृतराष्ट्र) के सामने तू क्या अपने निंदनीय कार्य की प्रशंसा करता है। अरे मूर्ख, सुन। बीच सभा में राजाओं के सामने मुझ भुवनेश्वर की आज्ञा से तुझ पशु की और तेरे भाई इस पशु (अर्जुन) की और राजा (युधिष्ठिर) और उन दोनों (नकुल, सहदेव) की भार्या (द्रौपदी) के केश खींचे गए। उस वैर में भला बता तो सही, उन बेचारे राजाओं ने क्या बिगाड़ा था जिन्हें तूने मारा है। मुझको बिना जीते ही इतना घमंड करता है ?"

(३) विद्रव—वध, बंधन आदि; जैसे, रत्नावली में वाभ्रव्य का वचन—

"राजभवन महँ आग लगी है अति ही भारी।
शिखा जात है ताकी हेम-कलस के पारी॥
छाय रही धूम सों प्रमद-कानन-तरुराजी।
सजल जलद श्यामल सों अरि कै करि रह्यो बाजी॥
भय सों कातर होय पुकारत हैं सब नारी।
हाहाकार मचो है महलन महँ अति भारी॥"

(४) द्रव—गुरुजनों का अपमान; जैसे, उत्तररामचरित में लव का वचन—

"सुंद की स्त्री के दमन करने पर भी जिनका यश अखंडित है, खर से लड़ने में भी जो तीन पग पीछे न हटे, डटे ही रह गए, इंद्रपुत्र बालि के वध में भी जिन्होंने कौशल दिखाया, जानते हो, वे बड़े हैं, वृद्ध हैं, उनके विषय में कुछ न कहना ही ठीक है।"

(५) शक्ति—विरोध का शमन; जैसे, रत्नावली में राजा का वचन—

"छल सों सपथ खाई, मधुर बनाई बात,
एतेहू पै प्यारी नहीं नेकु नरमाई है।
पायन पलोटे ताके बहु बार धाय धाय,
अरु सखीगन बहु भाँति समझाई है॥
याहि को अचंभो मोहि आवत है बार बार,
ताहू पै तनिक नहीं प्यारी पतियाई है।
पाछे निज आँखिन के आँसुन सों आप धोय,
मन की गलानी प्यारी आप ही बहाई है॥"

(६) द्युति—तर्जन और उद्वेजन (डाटना और फटकारना); जैसे, वेणीसंहार में दुर्योधन के प्रति भीम की उक्ति—

"अरे नरपशु, तू अपना जन्म चंद्रवंश में बताता है और अब भी गदा धारण करता है। दुःशासन की रुधिर-मदिरा के पान से मत्त मुझको अपना शत्रु कहता है, अभिमान से अंधा होकर भगवान् विष्णु के प्रति भी अनुचित व्यवहार करता है और इस समय मेरे डर के मारे लड़ाई से भागकर यहाँ कीच में छिपा पड़ा है।"

(७) प्रसंग—गुरुजनों का कीर्त्तन; जैसे, रत्नावली में वसुमति का वचन—

"महामान्य सिंहलपति ने महाराज को जो रत्नावली नाम की कन्या दी, एक सिद्ध पुरुष ने उसके विषय में कहा था कि जो इस कन्या का वर होगा, वही चक्रवर्ती राजा होगा।......सिंहलनरेश ने अपनी रत्नावली आपको देने के लिये हमारे साथ कर दी।"

(८) छलन—अपमान; जैसे, रत्नावली में राजा का वचन—

"हाय ! देवी ने मेरी बात को जरा भी न माना ।"

(९) व्यवसाय—अपनी शक्ति का कथन; जैसे, रत्नावली में ऐंद्रजालिक की उक्ति—

"चंद्र खैंचि धरती पर लाऊँ । गिरि उठाय आकास चढ़ाऊँ ॥
कहिए जल में आग लगाऊँ । दिन में आधी रात दिखाऊँ ॥
बात अधिक अब कहा बढ़ाऊँ । गुरु-प्रताप सों सबहि दिखाऊँ ॥"

(१०) विरोधन—कार्य में विघ्न का ज्ञापन; जैसे, वेणीसंहार में युधिष्ठिर की यह उक्ति—

"हम लोगों ने भीष्म रूप महासागर पार कर लिया । द्रोण रूप भयानक अग्नि जैसे तैसे शांत कर दी, कर्ण रूप विषधर भी मार डाला, शल्य भी स्वर्ग चला गया । अब विजय थोड़ी ही शेष रही थी कि साहसी भीम ने अपनी बात से हम सबों के प्राणों को संशय में डाल दिया ।"

(११) प्ररोचना—भावी अर्थ-सिद्धि की सूचना अर्थात् सफलता के लक्षण देखकर भविष्य का अनुमान; जैसे, वेणीसंहार में—

"अब संदेह के लिये स्थान ही कहाँ है, हे युधिष्ठिर, आपके राज्याभिषेक के लिये रत्न-कलश भरे जायँ, द्रौपदी बहुत दिनों से छोड़े हुए अपने केश-गुंफन का उत्सव करे । क्षत्रियों के उच्छेदक परशुराम और क्रोधांध भीम के रण में पहुँचने पर फिर विजय में संदेह ही क्या है ?"

(१२) विचलन—बहकना या सीटना; जैसे, रत्नावली में यौगंधरायण की यह उक्ति—

"(स्वगत) रानी के मरने की झूठी खबर उड़ाई और रत्नावली प्राप्त की। रानी राजा को अन्य स्त्री में आसक्त देख दुःखित हुई । यद्यपि यह सब स्वामी के हित के लिये किया, तथापि लज्जा से सिर नहीं उठा सकता ।"

(१३) आदान—कार्य का संग्रह अर्थात् अपने अर्थ का साधन; जैसे, रत्नावली में सागरिका की यह उक्ति—

"मेरे भाग्य से चारों ओर आग भड़क उठी है। इसी से आज सब दुःख दूर हो जायगा।"

(ङ) निर्वहण संधि—इसमें पूर्व-कथित चारों संधियों में यथा-स्थान वर्णित अर्थों का प्रधान प्रयोजन की सिद्धि के लिये समाहार हो जाता है और मुख्य फल की प्राप्ति भी हो जाती है। इसमें फलागम अवस्था और कार्य अर्थ-प्रकृति आती है। रत्नावली नाटिका में विमर्श-संधि के अंत से लेकर चौथे अंक की समाप्ति तक यह संधि होती है। इसके १४ अंग माने गए हैं—

(१) संधि —बीज का आगमन (उद्भावन) अर्थात् छेड़ना; जैसे, रत्नावली में वसुभूति का यह कहना—

"वाभ्रव्य, यह तो राजपुत्री के जैसी है।"

"वाभ्रव्य— मुझे भी ऐसी ही जान पड़ती है।"

(२) विबोध—कार्य का अनुसंधान या जाँच; जैसे, रत्नावली में—

"वसुभूति—यह कन्या कहाँ से आई ?

राजा—महारानी जानती हैं।

वासवदत्ता—आर्य्यपुत्र, यौगंधरायण ने यह कहकर कि यह सागर से प्राप्त हुई है, मुझे इसे सौंपा था। इसी लिये इसे सागरिका कहकर बुलाया गया है।

राजा (स्वगत)—यौगंधरायण ने सौंपा था। मुझसे बिना कहे हुए उसने ऐसा क्यों किया ?

(३) ग्रथन—कार्य का उपक्षेप, चर्चा या जिक्र; जैसे, रत्नावली में यौगंधरायण की उक्ति—

"देव, मैंने जो यह काम आपसे बिना कहे हुए किया, इसे आप क्षमा करें।"

(४) निर्णय—अनुभव-कथन; जैसे, रत्नावली में यौगंधरायण का कथन—

"(हाथ जोड़कर) देव, सुनिए। सिंहलेश्वर की कन्या इस रत्नावली के विषय में एक सिद्ध पुरुष ने कहा था कि जो इसे व्याहेगा, वह चक्रवर्ती राजा होगा। इसी विश्वास पर मैंने यह कन्या आपके लिये माँगी। रानी वासवदत्ता के मन में दुःख होने के विचार से सिंहलेश्वर ने कन्या देने से इंकार किया। तब मैंने सिंहलेश्वर के पास वाभ्रव्य को भेजकर यह कहलाया कि रानी वासवदत्ता आग में जल गई हैं।"

(५) परिभाषण—एक दूसरे को कह सुनाना; जैसे, रत्नावली में —

"रत्नावली—(स्वगत) मैंने महारानी का अपराध किया है। अब मुँह दिखाने को जी नहीं चाहता।

वासवदत्ता—(हाथ फैलाकर) आ, अरी निष्ठुर, अब तो बंधुस्नेह दिखा। (राजा से) आर्य्यपुत्र, मुझे अपनी निष्ठुरता पर बड़ी लज्जा आती है। आप जल्दी इसका बंधन खोल दें।

राजा—(प्रसन्न होकर) जैसी देवी की आज्ञा।

वासवदत्ता—(वसुभूति से) मंत्री, यौगंधरायण के कारण ही मैं इतने दिनों तक रत्नावली के लिये बुरी बनी रही हूँ। उन्होंने जान बूझकर भी कोई समाचार मुझसे नहीं कहा।"

(६) प्रसाद—पर्युपासना अर्थात् कुछ कह या करके प्रसन्न करना; जैसे, रत्नावली में यौगंधरायण का वचन—

"महाराज, आपसे न कहकर मैंने जो किया है, उसके लिये मुझे क्षमा कर।"

(७) आनंद—वांछिताप्ति या अभिलषित अर्थ की प्राप्ति; जैसे, रत्नावली में वासवदत्ता के प्रति राजा का वचन—

"देवी, आपके अनुग्रह का कौन न आदर करे! (रत्नावली को ग्रहण करता है।)"

(८) समय—दुःख का निर्णय या दूर होना; जैसे, रत्नावली में वासवदत्ता का वचन—

"बहिन! धीरज धर, चेत कर।"

(९) कृति—लब्धार्थ का निश्चय अर्थात् लब्ध अर्थ के द्वारा शोक आदि का शमन अथवा शोकादि से उत्पन्न अस्थिरता का निवारण; जैसे, रत्नावली में राजा का यह कहना—

"देवी, आपके अनुग्रह का कौन आदर न करे!

वासवदत्ता—आर्यपुत्र, रत्नावली के माता पिता, बंधु-बांधव सब दूर देश में हैं। आप ऐसा करें जिसमें यह उन्हें स्मरण करके उदास न हो।"

(१०) भाषण—प्रतिष्ठा, मान, यश आदि की प्राप्ति अथवा साम-दाम आदि; जैसे, रत्नावली में राजा की उक्ति—

"विक्रम बाहु सों पायो सगो, भूसार की सागरिका मं पाई।
भूमि ससागर पाई, मिली महरानी सहोदर सों हरषाई॥
जीत्यौ है कोसल देश, फिरी चहुँ ओर को आज हमारी दुहाई।
आप सों जोग मिली पुनि आज रही कहों काकी सनेह कचाई॥"

(११—१२) पूर्व भाव और उपगूहन—कार्य का दर्शन और अद्भुत वस्तु की प्राप्ति या अनुभव; जैसे, रत्नावली में—

"यौगंधरायण—(हँसकर) रानीजी, आपने अपनी छोटी बहन को पहचान लिया। अब जैसा उचित समझें, करें।"

"वासवदत्ता—(मुस्कराकर) मंत्रीजी, स्पष्ट ही कह दो न कि रत्नावली महाराज को दे दो।"

(१३) काव्यसंहार—वरदान-प्राप्ति; जैसे, शकुंतला नाटक में कश्यप का वचन—

"भरता तेरो इंद्र सम, सुत जयंत उपमान।
और कहा वर देहुँ तोहि तू हो सची समान॥"

(१४) प्रशस्ति—आशीर्वाद; जैसे, रत्नावली में—

"देवन को पति इंद्र करै बरषा मनभाई।
भूमि रहै चोखे धानन सों निसि-दिन छाई॥
विप्र करैं जप होम तोप यहि विधि देवन को।
प्रलय प्रयंत रहै सुख संगम सज्जन गन को॥
वज्रलेप सम खलन के दुर्जय अरु दुस्सह वचन।
लोप पाय मिट जायँ सब शेष होय तिनको शमन॥"

कुछ शास्त्रकारों का मत है कि संधियों के अंतर्गत उपसंधियाँ, अंतर्संधियाँ या संध्यंतर भी होते हैं। इनका उद्देश्य भी व्यापार-शृंखला की शिथिलता को दूर रखकर उसे अग्रसर करना और चमत्कार लाना होता है। ये अंतर्संधियाँ २१ बतलाई गई हैं। यथा—(१) साम—अपनी अनुवृत्ति को प्रकाशित करनेवाला प्रिय वाक्य। (२) दान—अपने प्रतिनिधि-स्वरूप भूषणादि का समर्पण। (३) भेद—कपट वचनों द्वारा सुहृदों में भेद डालना। (४) दंड—अविनय को सुन या देखकर डाटना। (५) प्रत्युत्पन्न मति। (६) वध—दुष्ट का दमन। (७) गोत्र-स्खलित—नाम का व्यतिक्रम। (८) ओज—निज शक्ति के सूचक वचन। (९) धी—इष्ट के सिद्ध न हो जाने तक चिंता। (१०) क्रोध। (११) साहस। (१२) भय। (१३) माया। (१४) संवृत्ति—अपने कथन को छिपाना। (१५) भ्रांति। (१६) दौत्य। (१७) हेत्ववधारण—किसी हेतु से कोई निश्चय। (१८) स्वप्न। (१९) लेख। (२०) मद। (२१) चित्र। इनमें से स्वप्न, लेख और चित्र आदि का उपयोग प्राय: देखने में आता है।

संध्यंतर

इस प्रकार पाँच संधियों के ६४ अंग और २१ संध्यंतर हुए। इनका प्रयोग ६ निमित्तों से होता है—(१) इष्टार्थ—जैसी रचना करनी हो, उसे पूरा करने के लिये; (२) गोप्य-गोपन—जिस बात को गुप्त रखना हो, उसे छिपाने के लिये; (३) प्रकाशन—जिस बात को प्रकट करना हो, उसे स्पष्ट करने के लिये; (४) राग—भावों का संचार करने के लिये; (५) आश्चर्य-प्रयोग—चमत्कार लाने के लिये; और (६) वृत्तांत का अनुपक्ष—कथा को ऐसा विस्तार देने के लिये, जिससे उसमें लोगों की रुचि बनी रहे। इन्हीं छः बातों को लाने के लिये इन ६४ संध्यंगों का, आवश्यकता के अनुसार, प्रयोग होना चाहिए। तात्पर्य यही है कि दृश्य-काव्य-रचना में संधियाँ और उनके अंग इस प्रकार रखे जायँ जिसमें इन छः उद्देश्यों की सिद्धि हो।

संध्यंगों और संध्यंतरों का उद्देश्य

साहित्य-दर्पणकार का कहना है कि जैसे अंगहीन मनुष्य किसी काम को करने के अयोग्य होता है, वैसे ही अंगहीन काव्य भी प्रयोग के योग्य नहीं होता। संधि के अंगों का संपादन नायक या प्रतिनायक को करना चाहिए। उनके अभाव में पताका-नायक इसे करे। वह भी न हो तो कोई दूसरा ही करे। संधि के अंग प्रायः प्रधान पुरुषों के द्वारा प्रयोग करने के योग्य होते हैं। उपक्षेप, परिकर और परिन्यास अंगों (मुख-संधि) में बीजभूत अर्थ बहुत थोड़ा रहता है। अतएव उनका प्रयोग अप्रधान पुरुषों द्वारा हो सकता है। इन अंगों का प्रयोग रसाभिव्यक्ति के निमित्त होना चाहिए, केवल शास्त्र-पद्धति का अनुसरण करने के लिये नहीं। जो वृत्तांत इतिहास-प्रसिद्ध होने पर भी रसाभिव्यक्ति में अनावश्यक या प्रतिकूल होते हों, उन्हें बिल्कुल छोड़ देना या बदल देना चाहिए। मुख्य बात इतनी ही है कि प्रतिभावान् कवि रसाभिव्यक्ति के लिये अंगों

का प्रयोग करे; केवल शास्त्र के नियमों का पालन करने अथवा इति-हासानुमोदित बातों को कहने के लिये न करे।

ऊपर अर्थ-प्रकृतियों, अवस्थाओं और संधियों का वर्णन हो चुका। यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि यद्यपि इनका प्रयोग भिन्न भिन्न विचारों से किया जाता है, तथापि तीनों के पाँच पाँच भेद होते हैं और वे एक दूसरे के सहायक या अनुकूल होते हैं। अर्थ-प्रकृतियाँ वस्तु के तत्त्वों से, अवस्थाएँ कार्य-व्यापार से और संधियाँ रूपक-रचना के विभागों से संबंध रखती हैं। इन बातों का स्पष्टीकरण नीचे लिखी सारिणी से हो जायगा—

वस्तु-तत्त्व या अर्थ-प्रकृति	कार्य-व्यापार की अवस्था	संधि
(१) बीज	(१) आरंभ	(१) मुख
(२) बिंदु	(२) प्रयत्न	(२) प्रतिमुख
(३) पताका	(३) प्राप्त्याशा	(३) गर्भ
(४) प्रकरी	(४) नियताप्ति	(४) विमर्श
(५) कार्य	(५) फलागम	(५) निर्वहण

वस्तु-विन्यास में एक और बात ध्यान देने की है। इसमें कुछ बातें तो ऐसी होती हैं, जिनका अभिनय करके दिखाना आवश्यक है, जिसमें मधुर और उदात्त रस तथा भाव निरंतर उद्दीप्त हो सकें। जो बातें नीरस अथवा अनुचित हों, उनका विस्तार न करके उनकी सूचना मात्र दे देनी चाहिए। जिनका विस्तार किया जाना चाहिए उन्हें 'दृश्य' और जिनकी केवल सूचना देनी चाहिए उन्हें 'सूच्य' कहा जाता है। सूच्य विषयों में लंबी यात्रा, वध, मृत्यु, युद्ध, राज्य या देश का विप्लव, नगर आदि का घेरा डालना, भोजन, स्नान, चुंबन, अनुलेपन, कपड़ा पहनना आदि हैं, परंतु इस नियम का कहीं कहीं पालन नहीं हुआ है; जैसे भास ने मृत्यु दिखाई है और राजशेखर

वस्तु के दो विभाग

ने विवाह-कृत्य दिखाया है। एक नियम यह भी है कि अधिकारी का वध नहीं दिखाना चाहिए। जहाँ तक हो सके, नायक या नायिका की मृत्यु नहीं दिखानी चाहिए और न उसकी सूचना ही देनी चाहिए। केवल एक अवस्था में यह बात दृश्य या सूच्य वस्तु के अंतर्गत आ सकती है, जब कि मृत पुरुष या स्त्री पुनः जीवित हो उठे। हमारे यहाँ नाटकों का उद्देश्य अर्थ, धर्म या काम की प्राप्ति है; अर्थात् नाटक में यह दिखाना चाहिए कि जीवन का क्या आदर्श है और वह कैसा होना चाहिए। साथ ही वह सामाजिकों को आनंद देनेवाला भी होना चाहिए। यही मुख्य कारण है कि हमारे यहाँ प्रायः करुण नाटकों का अभाव है। ऊरुभंग नाटक में दुर्योधन की मृत्यु दिखलाने के कारण उसको कुछ लोग करुण कह सकते हैं, पर ऐसा सिद्धांत स्थिर करने में इस बात का ध्यान नहीं रखा जाता कि दुष्टों को दंड और सज्जनों का उपकार ही हिंदुओं के जीवन-संबंधी सब व्यापारों का अंतिम फल माना जाता है। युरोप के नाटकों में यूनानी नाट्य कला का प्रभाव प्रत्यक्ष देखने में आता है। यूनानी करुण नाटकों (Tragedies) का उद्देश्य मानवीय व्यापारों का ऐसा चित्र उपस्थित करना है जिसमें प्रतिकूल स्थिति या भाग्य का विरोध भरसक दिखाया जाय, चाहे इस प्रयत्न का कैसा ही आधि-दैविक या मानुषिक विरोध क्यों न उपस्थित हो और चाहे अंत में उसका परिणाम सर्वनाश ही क्यों न हो। उनमें मानवीय उद्योग की महत्ता का चित्र उपस्थित करना ही एक मात्र उद्देश्य माना गया है। हिंदुओं के विचार में भाग्य मनुष्य से अलग नहीं है; वह मनुष्य के पूर्व-जन्म के कर्मों का फल मात्र है। यदि किसी ने पूर्व-जन्म में बुरे कर्म किए हैं, तो इस जन्म में वह उनका फल भोगेगा, उससे वह किसी अवस्था में बच नहीं सकता। रूपकों के उद्देश्य को ध्यान में रखकर विचार करने से यह स्पष्ट विदित हो जायगा कि जिन

बातों का अभिनय करना या सूचना देना भी मना किया गया है वे ऐसी हैं जिन्हें शिष्ट समाज अनुचित और कला की दृष्टि से निंदनीय समझता है। इन्हीं सिद्धांतों में विरोध होने के कारण युरोपीय और भारतीय नाटकों में बड़ा भेद है। भारतीय तो केवल आनंद के लिये नाटक देखकर और उससे शिक्षा ग्रहण करके जीवन के आदर्श की महत्ता समझते हैं; पर युरोपीय यह जानना चाहते हैं कि सामाजिक जीवन कैसा है। साधारणतः जीवन दुःखमय और सुखमय दोनों होता है; अतएव वहाँ करुण (Tragic) और हास्य (Comic) दोनों प्रकार के नाटक होते हैं। भारतवर्ष में अब तक लोग करुण नाटकों को देखना नहीं चाहते। जो नाटक-मंडलियाँ ऐसे नाटकों का अभिनय करती हैं, उन्हें लाभ नहीं होता। करुण नाटकों में केवल यही विशेषता होती है कि उनका प्रभाव दुःखदायक होने के कारण हास्य नाटकों की अपेक्षा अधिक स्थायी होता है।

ऐसी बातें, जो दृश्य वस्तु के अंतर्गत आ सकती हैं, अंकों में दिखलानी चाहिएँ; पर इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि उसमें

अंक

एक दिन से अधिक की घटनाओं का समावेश न हो। यदि यह न हो सकता हो, तो उन्हें इस प्रकार से संक्षिप्त करना चाहिए कि वे काव्य के सौष्ठव को नष्ट न कर सकें। साथ ही अंकों को असंबद्ध न होने देना चाहिए। रचना इस प्रकार करनी चाहिए, जिसमें एक घटना दूसरी घटना से साधारणतः निकलती हुई जान पड़े। अंकों में वस्तु-विन्यास सम्यक् रीति से होना चाहिए। जहाँ कहीं किसी अंक में किसी कार्य की समाप्ति अथवा किसी फल की प्राप्ति होती जान पड़े, वहाँ कोई बात ऐसी आ जानी चाहिए जो कार्य-व्यापार को अग्रसर करे। परंतु यह आवश्यक नहीं है और न ऐसा प्रायः देखने ही में आता है कि एक अंक के अनंतर दूसरा अंक आ जाय और दोनों में

जिन घटनाओं का वर्णन हो, उनके बीच के समय की घटनाओं का उल्लेख ही न हो। प्रायः दो अंकों के बीच में एक वर्ष तक का समय अंतर्हित रहता है। यदि इससे अधिक का समय इतिहासानुमोदित हो, तो नाटककार को उसे घटाकर एक वर्ष या उससे कम का कर देना चाहिए। सामाजिकों को इस अंतर की सूचना देने के लिये शास्त्रकारों ने पाँच प्रकार के दृश्यों का विधान किया है जिन्हें अर्थोपक्षेपक कहते हैं। इन्हीं के द्वारा वे बातें भी प्रकट की जाती हैं जो सूच्य वस्तुओं में गिनी जाती हैं और जिनका अभिनय करके दिखाना शास्त्रानुमोदित नहीं है। ये पाँचों अर्थोपक्षेपक इस प्रकार हैं—

अर्थोपक्षेपक

(१) विष्कंभक—जो कथा पहले हो चुकी हो अथवा जो अभी होनेवाली हो, इसमें उसकी मध्यम पात्रों द्वारा सूचना दी जाती है या उसका संक्षिप्त वर्णन किया जाता है। यह दो प्रकार का होता है—शुद्ध और संकर। जब एक अथवा अनेक मध्यम पात्र इसका प्रयोग करते हैं तब यह शुद्ध कहलाता है, और जब मध्यम तथा नीच पात्रों द्वारा इसका प्रयोग होता है, तब यह संकर कहा जाता है। शुद्ध विष्कंभक में मध्यम पात्रों का भाषण या वार्तालाप संस्कृत में और संकीर्ण विष्कंभक में मध्यम तथा नीच पात्रों का प्राकृत में होता है। शुद्ध का उदाहरण मालती-माधव के पंचम अंक में कपालकुंडला-कृत प्रयोग और संकीर्ण का रामाभिनंद में क्षपणक और कापालिक-कृत प्रयोग है। नाटक के आरंभ में केवल इसी अर्थोपक्षेपक का प्रयोग हो सकता है।

(२) प्रवेशक—इसमें भी बीती हुई या आगे होनेवाली बातों की सूचना नीच पात्रों द्वारा दी जाती है। यह दो अंकों के बीच में आता है, अतएव पहले अंक में नहीं हो सकता। जो बातें छूट जाती हैं या छोड़ दी जाती हैं, उन्हीं की सूचना इसके द्वारा दी

जाती है। इसमें पात्रों की भाषा उत्कृष्ट नहीं होती। जैसे वेणी-संहार के चौथे अंक में दो राक्षसों की बातचीत है। शकुंतला नाटक में विष्कंभक और प्रवेशक दोनों के उदाहरण हैं। तीसरे अंक के आरंभ में विष्कंभक द्वारा कण्व ऋषि का एक शिष्य अपने आश्रम में राजा दुष्यंत के ठहरने की सूचना संस्कृत में देता है और चौथे अंक के प्रवेशक में मछुए और सिपाहियों की बातचीत है।

(३) चूलिका—नेपथ्य से किसी रहस्य की सूचना देना चूलिका है। जैसे महावीरचरित में यह सूचना दी जाती है कि राम ने परशुराम को जीत लिया। रसार्णव-सुधाकर में 'खंड-चूलिका' का भी उल्लेख है, जिसमें एक अंक के रंगमंच पर स्थित एक पात्र नेपथ्य में स्थित दूसरे पात्र से आरंभ में बात करता है; जैसे, बाल-रामायण के सातवें अंक में।

(४) अंकास्य—इसमें एक अंक के अंत में उसके आगे के अंक में होनेवाली बातों के आरंभ की सूचना पात्रों द्वारा दी जाती है। जैसे महावीरचरित के दूसरे अंक के अंत में सुमंत्र वशिष्ठ, विश्वामित्र और परशुराम के आने की सूचना देता है और तीसरे अंक का आरंभ इन्हीं तीनों पात्रों के प्रवेश से होता है।

(५) अंकावतार—इसमें एक अंक की कथा दूसरे अंक में बराबर चलती रहती है, केवल अंक के अंत में पात्र बाहर जाकर अगले अंक के आरंभ में पुनः आ जाते हैं। जैसे मालविकाग्निमित्र के पहले अंक के अंत और दूसरे अंक के आरंभ में इसका प्रयोग देख पड़ता है।

अंकास्य और अंकावतार में इतना ही भेद है कि अंकास्य में तो आगे के अंक की बातों की सूचना मात्र दी जाती है और अंकावतार में पूर्व अंक के पात्र अगले अंक में पुनः आकर उसी कार्य-व्यापार को अग्रसर करते हैं। साहित्य-दर्पणकार ने अंकावतार का ऐसा लक्षण लिखा है जो अंकास्य के लक्षण से बहुत कुछ मिलता है। अतः उनको इन दोनों में भ्रम हो जाने की आशंका हुई। इसी से उन्होंने

अंकास्य के स्थान पर 'अंकमुख' नाम का एक भिन्न अर्थोपक्षेपक मान-कर उसकी व्याख्या इस प्रकार की है—जहाँ एक ही अंक में सब अंकों की अविकल सूचना दी जाय और जो बीजभूत अर्थ का सूचक हो, उसे अंकमुख कहते हैं। जैसे मालती-माधव के पहले अंक के आरंभ में कामंदकी और अवलोकिता ने भविष्य की सब बातों की सूचना दे दी है। इससे स्पष्ट है कि अंकास्य और अंकमुख में इतना ही भेद है कि पहले में केवल आगे के अंक की कथा सूचित की जाती है और दूसरे में संपूर्ण नाटक की।

इस प्रकार इन पाँचों अर्थोपक्षेपकों द्वारा सूच्य विषयों की सूचना दी जाती है।

नाट्य के अनुरोध से नाटकीय वस्तु के तीन भेद और माने गए हैं—श्राव्य, अश्राव्य और नियत-श्राव्य। जो सब पात्रों के सुनने योग्य हो उसे श्राव्य या प्रकाश और जो किसी के सुनने योग्य न हो उसको अश्राव्य या 'स्वगत' कहते हैं। नियत-श्राव्य दो प्रकार का होता है—पहला अपवारित और दूसरा जनांतिक। सामने विद्यमान पात्र की ओर से मुँह फेर-कर उसके किसी रहस्य की बात पर उससे छिपाकर कटाक्ष करने को अपवारित कहते हैं। अपवारित शब्द का अर्थ है छिपाना। दो से अधिक पात्रों की बातचीत के प्रसंग में, अनामिका को छोड़ बाकी तीन उँगलियों की ओट में, केवल दो पात्रों के गुप्त संभाषण को जनांतिक कहते हैं। नाट्य-शास्त्र के अनुसार यह बात मानी गई है कि इस प्रकार के संभाषण को तीसरा नहीं सुनता।

वस्तु के तीन और भेद

आकाश की ओर देखता हुआ एक ही पात्र सुनने का नाट्य कर जब स्वयं प्रश्नों को दोहराता है और स्वयं ही उत्तर देता है तब उसे आकाशभा-षित कहते हैं। इसके द्वारा आगे-पीछे की बातों की सूचना दी जाती है।

चौथा अध्याय

पात्रों का प्रयोग

रूपक के प्रधान पात्र को नायक कहते हैं, क्योंकि वह नाटकीय कथा की शृंखला को अग्रसर करता हुआ अंत तक ले जाता है।

नायक

धनंजय के अनुसार उसे (१) विनीत, (२) मधुर, (३) त्यागी, (४) दक्ष, (५) प्रियंवद, (६) शुचि, (७) रक्तलोक, (८) वाग्मी, (९) रूढ़वंश, (१०) स्थिर, (११) युवा, (१२) बुद्धिमान्, (१३) प्रज्ञावान्, (१४) स्मृति-संपन्न, (१५) उत्साही, (१६) कलावान्, (१७) शास्त्रचक्षु, (१८) आत्मसम्मानी, (१९) शूर, (२०) दृढ़, (२१) तेजस्वी और (२२) धार्मिक होना चाहिए। इस प्रकार भारतीय नाट्य-शास्त्र के अनुसार उसे सब उच्च गुणों का आधार होना चाहिए, परंतु प्रत्येक गुण उचित सीमा के अंदर हो। नायक नम्र हो, किंतु उसकी नम्रता ऐसी न हो कि दूसरे उसको पद-दलित करते रहें। भारतीय नाट्य-शास्त्र के नायक की नम्रता दौर्बल्य का नहीं वरन् उच्च संस्कृति और शील का लक्षण है। इसी लिये नम्रता के साथ साथ आत्म-सम्मान और तेजस्विता आदि गुणों का भी विधान है। वीर-चरित में परशुराम के प्रति राम के ये वचन उनकी ऐसी ही **विनीतता** के सूचक हैं—

> सेवत ब्रह्मवादि पद जाके। निधि तप नेम ज्ञान विद्या के॥
> सोइ निज ओर मोरि यह खोरी। छमव नाथ बिनवौं कर जोरी॥
>
> [वीर-चरित]

केशव की रामचंद्रिका में राम की यह उक्ति उनकी तेजस्विता, उत्साह और आत्म-सम्मान को प्रकट करती है—

भगन कियो भव-धनुप साल तुमको अब सालै;
नष्ट करौं विधि-सृष्टि ईस आसन ते चालै।
सकल लोक संहरहु सेस सिर तें धर डारैं;
सप्त सिंधु मिलि जाहिं होहि सब ही तन भारैं॥
अति अमल जोति नारायणी कह केशव बुझि जाय बर।
भृगुनंद सँभारु कुठारु मैं कियो सरासन-युक्त सर॥

[रामचंद्रिका]

देखते ही सुंदर लगना **मधुरता** का गुण है। वीर-चरित में राम की रमणीय मूर्त्ति देखते ही क्रोधाविष्ट परशुराम के हृदय में यह बात बैठ गई—

हे राम शोभाधाम, निज गुनन बस अभिराम।
मेरे हिए, तोहि देखि, तव प्रीति होति बिसेखि॥

[वीर-चरित]

त्यागी वह है जो सत्कर्म के लिये अपना सर्वस्व न्योछावर कर दे। अपनी त्वचा दे डालनेवाले कर्ण, मांस दे डालनेवाले शिवि, हड्डियाँ तक दे डालनेवाले दधीचि और प्राण तक दे डालनेवाले जीमूत-वाहन इसके विख्यात उदाहरण हैं। कहा भी है—

त्वचा कर्ण ने, मांस शिवि, जीमुतवाहन प्रान।
मुनि दधीचि ने अस्थि दी, देते क्या न महान॥

दक्ष वह है जो इष्ट कार्य शीघ्र कर डाले। रामचंद्रिका का नीचे लिखा पद्य राम की दक्षता का उदाहरण है—

रामचंद्र कटि सों पटु बांध्यो, लीलयैव हर को धनु साध्यो।
नेकु ताहि कर-पल्लव सों छूवै, फूल-मूल जिमि टूक करयो द्वै॥

[रामचंद्रिका]

प्रियंवद—प्रिय बोलनेवाला; जैसे, परशुराम के प्रति राम के ये वचन हैं—

जमदग्नि पिता ऋषि-नायक थे,
　　गुरु शंकर हैं भगवान स्वयं।
बल तेज कहाँ? मुख से जो कहूँ,
　　गुण जान रहा तव सर्व जगत्।
यह वारिधि-वेष्टित भूमि सभी,
　　द्विज ब्राह्मण को सब अर्पण की।
तप, धर्म, तथा सत के निधि हो,
　　जग में वह कौन न ज्ञात जिसे॥

[वीर-चरित]

प्रियभाषिता का यह अर्थ नहीं कि चाहे जैसा अवसर हो नायक मीठी ही वाणी बोलता रहे। तात्पर्य इतना ही है कि वह बिना कारण कटु वाक्य न कहे। पर जहाँ तक सम्भव हो, नायक कटु वाक्यों को भी प्रिय आवरण से वेष्टित करे।

शुचि—जिसका मन पवित्र हो और कामादि विकारों से दूषित न हो। उदाहरण के लिये रघुवंश में राम का शूर्पणखा से कहना—

शुभे! कौन? किसकी हो दारा?
किस कारण आज यहाँ पग धारा?
निर्भय बोलो, रघुवंशी जन की—
परदारा-विमुख वृत्ति है मन की।

[रघुवंश]

रक्तलोक—लोक-प्रिय, जिस पर जनता का अनुराग हो—

गो-ब्राह्मण का पालनहारा।
वीर धीर जो पुत्र तुम्हारा॥

अब निज नाथ पाय श्रीरामा।
प्रजा होय सब पूरन कामा ॥

[वीर-चरित]

किसी युक्तियुक्त चुभती हुई बात को प्रिय रूप में बोलनेवाला **वाङ्गी** कहलाता है। हनुमन्नाटक में राम की इस उक्ति में यह गुण भरा है—

मुझे बाहु का विदित न बल था, न धनुष का भवदीय।
शिव के धनु की डोरी खींची, है यह दोष मदीय॥
क्षमा कीजिए, परशुराम! यह मेरा चपल विनोद।
बालक-नटखट से भी होता गुरुजन को है मोद॥

रूढ़वंश—उच्च कुल में उत्पन्न। नायक नीच कुल का न होना चाहिए। वह या तो ब्राह्मण-कुलोत्पन्न हो या राजकुलोत्पन्न। जैसे, वीर-चरित में राम या मालती-माधव में माधव। इस नियम के अनुसार कोई साधारण व्यक्ति किसी रूपक का नायक नहीं हो सकता। यही कारण है कि भारतीय रूपकों में नायक कोई राजवंशी या ब्राह्मण-कुल में भी मंत्री अथवा मंत्री का पुत्र ही देखा जाता है।

स्थिर—मन, वचन और कर्म से अपनी बात पर डटा रहनेवाला। जैसे रामचंद्रिका में राम—

कंठ कुठार परै अब हार कि फूलै असोक कि सोक समूरो।
कै चितसारी चढ़ै, कि चिता, तन चंदन चर्चि कि पावक पूरो॥
लोक में लोक बड़ो अपलोक, सु केशवदास जु होउ सु होऊ।
विप्रन के कुल को भृगुनंदन! सूर न सूरज के कुल कोऊ॥

युवा—जवान।

बुद्धिमान्—बुद्धि से युक्त।

प्रज्ञावान्—विवेक के साथ कार्य करनेवाला। जैसे, गुरु विश्वामित्र बुद्ध के लिये कहते हैं—

मम चटसारहिं आयो तू केवल दरसावन—
बिन पोथिन सकल तत्त्व तू आपुहि छानत।

स्मृति-संपन्न—जो कुछ सीखे या देखे उसे अच्छी तरह स्मरण रख सके। प्रज्ञा द्वारा किसी वस्तु का ज्ञान ग्रहण किया जाता है और स्मृति से वह बहुत काल तक धारण किया जाता है। इसी से उसे धारणा-शक्ति भी कहते हैं।

किसी कार्य के करने और उसे पूरा निभाने की प्रसन्नता-पूर्ण तथा अपनी शक्ति में विश्वास-युक्त उत्कट इच्छा को उत्साह कहते हैं।

कलावान्—कलाओं को जाननेवाला। प्राचीन काल में उच्च कुल के बालकों को पाठशालाओं में सब कलाएँ सिखाई जाती थीं। कलाओं का ज्ञान उच्च संस्कृति का उपादान समझा जाता था।

शास्त्रचक्षु—शास्त्र की दृष्टि से देखनेवाला, शास्त्रों के अनुसार चलनेवाला। उदाहरण के लिये रामचंद्रिका में रामचंद्र, जो ताड़का के विश्वामित्र का यज्ञ भंग करने पर बाण ताने हुए भी स्त्री जानकर उस पर नहीं छोड़ते, और आततायियों को बिना स्त्री-पुरुष के विचार के मार डालने की शास्त्राज्ञा को विश्वामित्र के मुँह से पाने पर ही उसे मारते हैं—

भीम भाँति ताड़का सुभंग लागि कर्न आय;
बान तानि, राम पै न नारि जानि छाँड़ो जाय।

विश्वामित्र—

कर्म करति यह घोर, विप्रन को दसहू दिशा।
मत्त सहस गज जोर, नारी जानि न छाँड़िए॥

[राम-चंद्रिका]

अपना अपमान न सह सकना **आत्म-सम्मान** की वृत्ति कहलाती है।

शूर—वीरता के साथ साथ जिसमें उपकार-बुद्धि और सौजन्य हो वह शूर कहलाता है।

दृढ़—अध्यवसायी—जैसे, सत्यहरिश्चंद्र नाटक में हरिश्चंद्र—

चंद्र टरै सूरज टरै, टरै जगत ब्यौहार।
पै दृढ़ व्रत हरिचंद को, टरै न सत्य विचार॥

प्रतापवान् तथा विक्रमशाली पुरुष की जिस आभा से लोग अनायास ही उसके सामने झुक जाते हैं वही **तेजस्विता** कहलाती है।

धार्मिक—धर्म में प्रवृत्ति रखनेवाला।

स्वभाव-भेद से नायक चार प्रकार के होते हैं—शांत, ललित, उदात्त और उद्धत। धीरता का गुण चारों प्रकार के नायकों में होना चाहिए। भारतीय विचार-पद्धति के अनुसार मनुष्य का स्वभाव दृढ़ होना चाहिए। अतएव नायक का स्थान वही पा सकता है जो अपने आपको वश में रख सकता हो। अधीरता स्त्री-सुलभ गुण है, नायक के लिये वह उचित नहीं है। साहित्य-सार में तीन ही प्रकार के नायक माने गए हैं। उद्धत नायक को उसमें स्थान नहीं दिया गया है।

(१) **धीरशांत** नायक में नायकोचित सामान्य गुण होते हैं। धनंजय के अनुसार वह 'द्विजादिक' होता है। धनिक ने 'द्विजादिक' की व्याख्या 'विप्र वणिक्सचिवादि' की है। क्षत्रिय राजा या राजकुमार को छोड़कर शेष सब को द्विजादिक में गिनना चाहिए। ललित नायक के उपयुक्त निश्चिंतता आदि गुण-संपन्न होने पर भी विप्रादि धीर शांत ही गिने जायँगे, ललित नहीं। यह धनिक की सम्मति है। संभवतः लालित्य के लिये राजस गुण की प्रधानता अपेक्षित है, जिसका ब्राह्मणादिक में अभाव माना गया है। सात्त्विक-वृत्ति-प्रधान होने के कारण वे शांत ही माने जाते हैं। मालती-माधव में माधव और मृच्छकटिक में चारुदत्त धीरशांत नायक हैं—

प्रगटित गुन द्युति सुंदर महान्,
अति मंजु मनोहर कलावान् ।
उदयो इक यह जग-दग-अनंद,
तिह उदयाचल सों बालचंद ॥

[मालती-माधव]

कीन्हे यज्ञ अनेक बाग मंदिर बनवाए,
जो पुरखन बैठाय विप्र श्रुति पाठ कराए।
मेरे मारन हित लगाय अपजस को टीका,
नाम लेत चांडाल हाय यहि छन तिन ही का ॥

[मृच्छकटिक]

(२) **धीरललित** नायक निश्चित, कलासक्त, सुखी और मृदुल स्वभाव का होता है। यह प्रायः राजा हुआ करता है जो अपने राजकार्य का भार दूसरों को सौंपकर नवीन प्रेम में लिप्त हो जाता है। जैसे, रत्नावली में वत्सराज—

विग्रह की चरचा न धरैं रति साथ बसैं सबके मन माहीं।
प्यारो वसंतक है जिनके, जिन्हैं देखि सुरासुर सिद्ध सिहाहीं ॥
आपनो मंजु महोत्सव देखिबे को उत्कंठित हो चितचाहीं।
वत्स महीपति रूप धरै यह कामहि आवति है सक नाहीं ॥

[रत्नावली]

(३) **धीरोदात्त** नायक शोक क्रोध आदि मनोवेगों से विचलित नहीं होता। इसी लिये उसे महासत्त्व कहा जाता है। वह क्षमावान्, अति गंभीर, स्थिर और दृढ़व्रत होता है। अपनी प्रशंसा वह अपने आप नहीं करता; वह गर्व करता है परंतु उसका गर्व विनय से ढका होता है और जिस काम को उठाता है उसे निभाकर छोड़ता है। इनमें से स्थिरता, दृढ़ता आदि गुण सामान्यतया प्रत्येक प्रकार के नायक में बताए गए हैं परंतु इनकी पराकाष्ठा धीरोदात्त नायक में ही देख पड़ती

है। सब उच्च वृत्तियों के उत्कर्ष का ही नाम औदात्त्य है। आचार्यों ने जीमूतवाहन, राम, बुद्ध, युधिष्ठिर आदि की उदात्त नायकों में गिनती की है। नागानंद में उनके रक्त-मांस का आहार करनेवाले गरुड़ को जीमूतवाहन कहते हैं—

वह रहा शिराओं में मम रक्त,
मांस भी देह में है शेष।
हो पाई है न तुम्हारी तृप्ति,
भोजन दिया गरुड़ क्यों छोड़ ?

अभिषेक के लिये बुलाए गए राम को वनवास दिया गया, परंतु उनके मुख पर इससे कुछ भी विकार न आया। जीमूतवाहन ने पिता की सेवा करने के सुख के सामने राज्य-वैभव को तुच्छ समझकर ठुकरा दिया। बुद्ध ने जीवों के प्रति दया के कारण राज्य-त्याग करके भिक्षु होना स्वीकार कर लिया और अंत में करुणा-धर्म के सामने प्राण भी त्याग दिए। इन उदाहरणों में शांतता की ही प्रधानता दिखाई देती है। परंतु यहाँ शांतता साध्य नहीं है साधन मात्र है; अतएव स्वभावज नहीं है। स्वभाव से शांत सामान्य नायकों में इन गुणों का होना उन्हें शांत नायक की ही कोटि में ला सकता है। राम आदि में यह शांतता, करुणा, विरक्ति और अपने सुख की उपेक्षा कर्त्तव्य-धर्म की पूर्ति का साधन होकर आई हैं, अतएव उदात्तता के उदाहरण हैं।

(४) **धीरोद्धत** नायक मायावी, छली, प्रचंड, चपल, असहनशील, अहंकारी, शूर और स्वयं अपनी प्रशंसा करनेवाला होता है। मंत्रबल से कुछ का कुछ कर दिखाना माया कहलाता है। उद्धत नायक को अपने बल और वैभव का दर्प रहता है। रावण धीरोद्धत नायक का अच्छा उदाहरण है—

महामीचु दासी सदा पाइँ धोवै, प्रतीहार ह्वैके कृपा सूर जोवै।
क्षपानाथ लीन्हे रहै छत्र जाको, करैगो कहा शत्रु सुग्रीव ताको?
सका मेघमाला, शिखी पाककारी, करै कोतवाली महादंडधारी।
पढ़ै वेद ब्रह्मा सदा द्वार जाके, कहा बापुरो शत्रु सुग्रीव ताके?
[रामचंद्रिका]

उद्धत नायक बहुत कम मिलते हैं। रावण को संभवतः किसी नाटककार ने भी अपने नाटक का नायक नहीं बनाया है। साहित्य-सार में तो उद्धत नायक माना ही नहीं गया है। हाँ, गौण पात्रों में उद्धतता के लक्षण मिलते हैं। वीर-चरित में परशुराम ने उद्धतता दिखलाई है—

क्षत्रिय की जाति सों विरोध मानि गर्भहू को,
पेट सन काटि खंड खंड करि डारे हैं।
राजन के बंसन इकीस बार कोप करि,
देश चहूँ ओर घूमि हेरि हेरि मारे हैं॥
बैरिन के लोहू के तड़ाग में अनंद भरि,
बोरि कै बुझाए निज क्रोध के अँगारे हैं।
रक्त ही को तर्पन पिताहि दीन्ह, कौन भूप,
जानत सुभाव और न चरित्र हमारे हैं॥

नाटक का नायक, आदि से अंत तक, इन चार प्रकारों में से एक प्रकार का होना चाहिए। अन्यथा नाटकीय शृंखला की एकता की रक्षा असंभव है। हाँ, गौण पात्र में स्वभाव का परिवर्तन दिखाया जा सकता है। कहीं वह ललित, कहीं शांत, कहीं उदात्त और कहीं उद्धत हो सकता है। महावीर-चरित में—

विप्र अतिक्रम के तजे तव कल्यान अपार।
नाहीं तो अति रूसिहै भृगुपति मित्र तुम्हार॥

से रावण के प्रति परशुराम की धीरोदात्तता और

जीति त्रिलोक जो गर्वित होय महेस समेत पहार उठावा।
सो दसकंधर को अभिमान जो खेल सो आवत सौंह नसावा॥
ऐसहुँ हैहय के बलवान नरेस को कोपि जो मारि गिरावा।
काटि के डार से बाहु हजार जो पेड़ के ठूँठ समान बनावा॥

से राम के प्रति धीरोद्धतता प्रकट होती है; फिर—

ब्राह्मन की अति पावन जाति औ बंस को धर्म चरित्र उदारा।
बुद्धि समेत पुरान औ वेद को ज्ञान निधान समान अपारा॥
एक तऊ बहु दोप से युक्त हरथो इनको जिन एक ही बारा।
छेम के काज सो विप्र की प्रीति सों तात हरथो मद-रोग हमारा॥

से उनकी धीरशांतता प्रकट होती है।

इन चार प्रकारों के भी चार चार भेद होते हैं—अनुकूल, दक्षिण, शठ और धृष्ट। अनुकूल नायक एक ही नायिका में अनुरक्त रहता है। वह एक-पत्नी-व्रत होता है; जैसे, उत्तर-रामचरित में राम—

सुख दुख में नित एक हृदय को प्रिय विराम थल।
सब विधि सों अनुकूल, विसद लच्छनमय अविचल॥
जासु सरसता सकै न हरि कबहूँ जरठाई।
ज्यौं ज्यौं बाढ़त सघन सघन सुंदर सुखदाई॥
जो अवसर पै संकोच तजि पहनत दृढ़ अनुराग सत।
जग दुरलभ सज्जन-प्रेम अस बड़भागी कोऊ लहत॥

शेष तीन भेदों का आधार पूर्व नायिका के प्रति नायक की चित्तवृत्ति है।

दक्षिण नायक की एक से अधिक नायिकाएँ अथवा पत्नियाँ होती हैं। नवीन प्रेम में अनुरक्त होने पर भी वह अपने पुराने प्रेम को कम नहीं करता। पहली नायिका से उसका सदय व्यवहार रहता है और अपनी सब प्रेमिकाओं में वह समान प्रेम रखता है—

यहि सन उचित धर्म यह होई। टारौं आज बात मैं सोई॥
टारत आज वचन निज भाई। कारन सकिय अनेक बनाई॥
मन लागे विन जन-सतकारा। नहिं अधिकहु मैं उचित विचारा॥
[मालविकाग्निमित्र]

शठ नायक दिखाने के लिये एक ही पत्नी में अनुरक्तता दिखाता है, परंतु छिपे छिपे और नायिकाओं से भी प्रेम करता है। अपने नवीन प्रेम को वह छिपाने का प्रयत्न करता रहता है—

करि कंद को मंद दुचंद भई फिर दाखन के उर दागती हैं।
पदमाकर स्वाद सुधा तें सिरे मधु तें महा माधुरी जागती हैं॥
गनती कहा एरी अनारन की ये अँगूरन तें अति पागती हैं।
तुम बातैं निसीठी कहौ रिस में मिसरी तें मिठी हमें लागती हैं॥
[पद्माकर]

धृष्ट नायक खुले खुले विप्रियाचरण करता है। अन्य प्रेमिका के साथ की गई रति के दंत-नख-क्षतादि चिह्नों को दिखाते हुए वह लज्जित नहीं होता। ज्येष्ठा नायिका पर उसका पूर्ववत् प्रेम नहीं रहता—

बरज्यौ न मानत हौ बार बार बरज्यौ मैं,
कौन काम मेरे इत भौन मैं न आइयै।
लाज को न लेस, जग-हाँसी को न डर मन,
हँसत हँसत आनि बात न बनाइयै॥
कवि मतिराम नित उठि कलकानि करौ,
नित झूठी सौंहैं करौ नित बिसराइयै।
ताकैं पद लागौ निसि जागि जाकैं उर लागे,
मेरे पग लागि उर आगि न लगाइयै॥
[मतिराम]

ये चारों भेद एक ही नायक की उत्तरोत्तर वृद्धिगत होती हुई अवस्थाओं के भी हो सकते हैं। नायक जब तक एक ही पत्नी में अनुरक्त रहता है तब तक वह अनुकूल रहता है। अन्य किसी के प्रेम-

पाश में पड़ जाने पर पहले वह नवीन प्रेम को छिपाने का प्रयत्न करता है और अपनी ज्येष्ठा नायिका से पूर्ववत् प्रेमाचरण करता है। यहाँ तक वह दक्षिण रहा, पर नवीन प्रेम के प्रकट हो जाने पर उसकी शाठ्य-अवस्था हो जाती है। यदि वह कुटिल, नीच-वृत्ति और निर्लज्ज हुआ या आगे चलकर ऐसा हो गया तो वह अपने विप्रियाचरण के चिह्नों को छिपाता भी नहीं है तथा निर्लज्ज होकर ज्येष्ठा नायिका का जी दुखाता है, जिससे पूर्वा-नायिका खंडिता भी कहलाती है। यह नायक की धृष्टता हुई। परंतु सहृदय नायक पूर्वा-नायिका के साथ सहानुभूति रखता है, उसके सपत्नीजात दुःख को समझता है और उससे पूर्ववत् प्रेम रखता है। रत्नावली नाटिका का नायक वत्सराज उदयन पहले अनुकूल नायक था, क्योंकि उसका प्रेम वासवदत्ता में ही केंद्रीभूत था। फिर जब वह सागरिका के प्रेमपाश में फँसता है और उसके साथ विवाह कर लेता है तब वह, ज्येष्ठा वासवदत्ता पर भी कनिष्ठा सागरिका के ही समान प्रेम रखने के कारण, दक्षिण नायक हो जाता है। विवाह के पूर्व जब तक उसका प्रेम स्वयं वासवदत्ता पर प्रकट नहीं हुआ उदयन ने उसे छिपाया जिसके कारण उतने समय तक के लिये उसे शठ नायक मानना चाहिए। परंतु धनिक के अनुसार यह शाठ्य नहीं है, क्योंकि उदयन ने वासवदत्ता की प्रसन्नता का सदैव ध्यान रखा। इसी प्रकार वासवदत्ता से सागरिका के प्रति अपने मुख से अपना प्रेम प्रकट करने के कारण वह धृष्ट भी नहीं कहा जा सकता। कारण वही बतलाया गया है जो ऊपर शठता के विरुद्ध दिया गया है—अर्थात् नवीन प्रेम पुराने प्रेम का विरोधी होकर नहीं आया है। नाटिका के अंत तक उदयन ने दाक्षिण्य नहीं छोड़ा।

चार प्रकार के नायकों के चार चार भेद होने से नायक के सोलह भेद होते हैं। नाट्याचार्य भरत ने उनके ज्येष्ठ, मध्यम और अधम

तीन तीन भेद और माने हैं। इस प्रकार नायक के अड़तालीस भेद हुए।

इन अड़तालीस के भी दिव्य, अदिव्य और दिव्यादिव्य तीन तीन भेद और माने जाते हैं। दिव्य देवता, अदिव्य मनुष्य और दिव्यादिव्य मनुष्य का रूप धारण किए हुए देवता होता है। इस प्रकार नायक के कुल मिलाकर एक सौ चौवालीस भेद होते हैं।

नायक के सात्त्विक गुण

नायक में (१) शोभा, (२) विलास, (३) माधुर्य, (४) गांभीर्य, (५) स्थिरता, (६) तेज, (७) लालित्य और (८) औदार्य, ये आठ सात्त्विक और पौरुषेय गुण होते हैं।

(१) **शोभा** में दो बातें आती हैं—नीच के प्रति घृणा और अधिक के प्रति स्पर्धा।

नीचता के प्रति घृणा—शोभा का यह उपादान प्राचीन सदर्प रूढ़वंशता के भावों (haughty aristocratic ideas) का अवशेष है। यह घृणा केवल दूसरों से जुगुप्सा ही नहीं कराती, बल्कि दया भी दिखाती है। इस घृणा का आधार ही दया है। धनिक ने दशरूपक की अपनी टीका में इसका यह उदाहरण दिया है—

विपुल ताड़का रूप लखि, जाहि नेकु भय नाहिं।
मारन महँ तेहि नारि लखि, कछु सकुचत मन माहिं॥

[महावीर-चरित]

परंतु यदि ध्यान देकर देखा जाय तो यह विचिकित्सा नीच के प्रति नहीं वरन् नीच कर्म के प्रति है। राम ताड़का से घृणा नहीं करते बल्कि उसका प्रमथन करने, उसको मारने, से घृणा करते हैं, क्योंकि ताड़का स्त्री है और स्त्री पर आयुध छोड़ना वीरों के अयोग्य है। स्त्री अबला मानी जाती है और 'उत्ताल' तथा 'उत्पात'-कारिणी होने पर भी वह स्त्री ही है। परंतु संभवतः रूढ़वंशता

निर्बलता को नीचता में ही गिनती है। पर साधारण अर्थ में घृणा शोभा का कारण नहीं हो सकती।

अधिक के प्रति स्पर्धा—बढ़े हुए से बढ़ने की इच्छा। इसी गुण के कारण महान् व्यक्तियों से बड़े बड़े काम होते हैं—

सठ साखामृग जोरि सहाई। बाँधा सिंधु इहै प्रभुताई॥
नाँघहिं खग अनेक बारीसा। सूर न होहिं ते सुनु सठ कीसा॥
मम भुज-सागर बल-जलपूरा। जहँ बूड़े बहु सुर नर सूरा॥
बीस पयोधि अगाध अपारा। को अस बीर जो पाइहि पारा॥
[तुलसीदास]

शोभा दो प्रकार की होती है—शौर्यशोभा और दक्षशोभा। पहली में वीरता की प्रधानता रहती है और दूसरी में क्षिप्रकारिता तथा कौशल की। शौर्यशोभा का उदाहरण—

कोटिन्ह आयुध रावन मारे। तिल-प्रमान प्रभु काटि निवारे॥
पुनि निज बानन्ह कीन्ह प्रहारा। स्यंदन भंजि सारथी मारा॥
सत सत सर मारे दसभाला। गिरि-सृंगन जनु प्रविसहिं ब्याला॥
सत सर पुनि मारा उर माहीं। परेउ अवनि-तल सुधि कछु नाहीं॥
[तुलसीदास]

दक्षशोभा का उदाहरण—

कठोर जो सहस्र वज्र का बना यथा,
तथा विनास था त्रिपूर दैत्य का किया।
गुरुत्व देव-तेज से प्रलब्ध था जिसे,
धरा महान चाप राम सामने वही॥

विश्वामित्र—

वृक्ष तोड़ डालता गजेंद्र-शाव ज्यों,
तीव्र-शक्ति-शील शैल-शृंग पै यथा।

हाथ में लिया टँकार घोर की तथा,
चाप खैंच टूक वीर राम ने किया ॥

(२) **विलास**—यह गुण नायक की चाल-ढाल को शानदार बनाता है। गर्वीली धैर्य-युक्त चाल और नजर तथा हँसते हुए बातें करना—ये तीन बातें विलास में आती हैं। उदाहरण—

तृनहू सम तीनिहुँ लोकनि को बल जो नहिं आँखिन के तर लावत।
अति उद्धत धीर गती सों मनो अचला कों चलै वह धीर नवावत ॥
निज बालक वैसहिं मैं गिरि के सम गौरवता की छटा छिटकावत।
तनधारी किधौं यह दर्प लसै अथवा वर-वीरता को मद आवत ॥
[उत्तररामचरित]

(३) **माधुर्य** वह गुण है जिसके द्वारा बड़े भारी विकार के लिये कारण होते हुए भी थोड़ा सा मधुर ही विकार होता है—

करि शावक दंत समान द्युति मुख-पंकज और कपोलन की,
लखि सीय-प्रभा, सुनि शत्रुध्वनि दृढ़ बांधत जूटजटा प्रभु हैं।
[दशरूपक]

(४) **गांभीर्य** के कारण बड़ी उद्वेगजनक अवस्था में भी कोई विकार उत्पन्न नहीं होता। माधुर्य में थोड़ा सा मधुर विकार होता है, गांभीर्य में विकार होता ही नहीं —

नहिँ प्रसन्न हुए अभिषेक से, मलिन वे न हुए वनवास से।
अचलता दृढ़ता लख राम की, सुफल लोचन दर्शन से हुए ॥

(५) **स्थिरता**—विघ्नों के उपस्थित होने पर भी अपने कार्य पर अचल डटे रहना स्थिरता का गुण है; जैसे—

करिहौं प्रायश्चित्त मैं, करि अपमान तुम्हार।
पै न धर्म निज छाँड़िहौं, गहि निज हाथ हथ्यार ॥
[महावीर-चरित]

(६) **तेज**—प्राणों की भी उपेक्षा करके दूसरों के अपमान-सूचक वचन या व्यापार को न सह सकना तेज कहलाता है; जैसे परशुराम के अपमान-सूचक वचन सुनकर लक्ष्मण का कथन—

इहाँ कुम्हड़-बतिया कोउ नाहीं। जो तरजनी देखि डरि जाहीं॥ ...

[तुलसीदास]

(७) **लालित्य**—प्रेम में आकृति और चेष्टा की स्वाभाविक मधुरता को लालित्य कहते हैं। यथा—

ढोलि आंख जल अँचवत, तरुनि सुभाय।
धरि खसकाइ घइलना, मुरि मुसुकाय॥

[रहीम]

(८) **औदार्य**—प्रिय वचन के सहित प्राणों तक का दान कर देने तथा गुणवानों का उपकार करने के लिये तत्पर रहना औदार्य गुण कहा जाता है। नागानंद में अपने रक्त मांस का आहार करनेवाले गरुड़ को उद्दिष्ट कर जीमूतवाहन कहते हैं—

बह रहा शिराओं में मम रक्त, मांस भी है देह में शेष।
हो पाई है न तुम्हारी तृप्ति, भोजन दिया गरुड़ क्यों छोड़?

नायक के सहायक

नायक के कई सहायक होते हैं। पीठमर्द सब में मुख्य सहायक होता है। यह उसका अंतरंग मित्र और प्रासंगिक वस्तु-पताका का नायक होता है। अधिकारी नायक के सब गुण उसमें होते हैं पर न्यून मात्रा में। उसे कार्य-कुशल (विचक्षण), अनुचारी और भक्त होना चाहिए। मालती-माधव में मकरंद इसका अच्छा उदाहरण है। कथा-वस्तु के अनुसार सुग्रीव भी पीठमर्द कहा जा सकता है, यद्यपि रामायण नाटक नहीं है।

नायक के शेष सहायक व्यवसायी होते हैं। व्यवसाय के अनुसार उनके विभाग इस प्रकार किए जा सकते हैं—

(१) शृंगार-सहाय, (२) अर्थचिंता-सहाय, (३) धर्म-सहाय, (४) दंड-सहाय, (५) अंतःपुर-सहाय और (६) संवाद-सहाय अथवा दूत।

शृंगार-सहाय में (१) विट, (२) चेट, (३) विदूषक, (४) मालाकार, (५) रजक, (६) तमोली और (७) गंधी आदि होते हैं।

विट अधिकारी नायक का निजी सेवक होता है। यह अपने स्वामी का बड़ा भक्त होता है और उसे प्रसन्न रखने के लिये उपयोगी नृत्त, गीत, वाद्य आदि कलाओं का थोड़ा-बहुत ज्ञान रखता है। यह धूर्त्त होता है और संभोग विषयों में अजान समझा जाता है, पर वेशोपचार में निपुण और वाचाल होता है। नागानंद में शेखरक विट है। चेट दास को कहते हैं।

विदूषक भी नायक का मित्र होता है। इसका काम लोगों को हँसाना है। नायक के साथ हँसी-मजाक की इसे बहुत स्वतंत्रता होती है। इसकी वेश-भूषा, बोलचाल, आचार-व्यवहार सब ऐसा होता है कि जिसे देखते ही हँसी आ जाय। कहीं कहीं यह भी लिखा है कि इसे बौना, गंजा और लाल आँखों तथा लंबे दाँतोंवाला होना चाहिए। लालची और भुक्खड़ तो यह सदा ही दिखाया जाता है। झगड़ा लगाने में भी यह चतुर होता है, परंतु नायक का इस पर बड़ा विश्वास होता है और विट तथा चेट की अपेक्षा उसके अधिक काम आता है। असल में यह बुद्धिमान् ब्राह्मण होता है और मनोरंजन के लिये नियुक्त होने के कारण इसे ये सब विकृत व्यापार करने पड़ते हैं। जैसे, रत्नावली में वसंतक और शाकुंतल में माढव्य।

माली, धोबी, तमोली और गंधी के व्यापार उनके नाम ही से प्रकट हैं।

अर्थचिंता-सहाय नाटकों के नायक विशेषकर राजा हुआ करते हैं, जिन्हें अपनी अर्थ-व्यवस्था के लिये मंत्री और कोषाध्यक्ष पर निर्भर रहना पड़ता है, परंतु धीर-ललित नायक अर्थ-सिद्धि के लिये

सलाहकारों पर अवलंबित नहीं रहता और धीर-शांत नायक को धन की विशेष चिंता ही नहीं होती।

दंड-सहाय दुष्टों के दमन में सहायक होते हैं। ये सुहृद् (मित्र), कुमार, आटविक (सीमारक्षक), सामंत और सैनिक आदि होते हैं।

दंड-सहाय और अर्थचिंता-सहाय राज्य-व्यवस्था के लिये नियुक्त होते हैं।

धर्म-सहाय ऋत्विग् (यज्ञ करनेवाले), पुरोहित (कुलगुरु), तपस्वी और ब्रह्मवादी (आत्मज्ञानी) लोग होते हैं।

अंतःपुर-सहाय वर्षवर (हिजड़े), किरात (जंगली), मूक (गूँगा), बौना, म्लेच्छ, ग्वाल और शकार। राजा की उपपत्नी के भाई को शकार कहते हैं। यह मूर्ख, घमंडी, ऐश्वर्यशाली और नीच कुल का होता है। मृच्छकटिक नायक में शकार का उपयोग हुआ है।

दूत किसी कार्य की सिद्धि के लिये या संदेश लेकर भेजे जाते हैं। इनके तीन भेद होते हैं—निःसृष्टार्थ, मितार्थ, संदेश-हारक। निःसृष्टार्थ उसे कहते हैं जो भेजनेवाले और जिसके पास भेजा जाय उन दोनों के मनोभावों को समझ जाय और आपही उत्तर का प्रत्युत्तर दे सके तथा उत्तम प्रकार से कार्य की सिद्धि करे। मितार्थ थोड़ा ही बोलता है, पर कार्य-सिद्धि कर देता है। संदेशहारक उतनी ही बात कहता है, जितनी उससे कही जाती है। पीठमर्द और धर्म-सहाय उत्तम, विट और विदूषक मध्यम और चेट शकार आदि अधम सहायक समझे जाते हैं। दूत, अपनी कार्य-कुशलता की मात्रा के अनुसार, तीनों में आ सकता है।

नायक की प्रिया या पत्नी को नायिका कहते हैं। आधुनिक (पाश्चात्य) नाट्य-शास्त्र में यह आवश्यक नहीं कि नायक की प्रिया

या पत्नी ही नायिका हो। स्त्रियों में से जिसका नाटकीय कथा-प्रवाह में प्रधान भाग हो वही पाश्चात्यों के अनुसार नायिका होती है, चाहे वह नायक की प्रिया हो या कोई और। परंतु भारतीय नाट्य-शास्त्र में नायक की प्रिया ही नायिका कहलाती है। नायक के सामान्य गुण नायिका में भी होने चाहिएँ। नाट्याचार्य भरत ने अपने नाट्य-शास्त्र में नायिकाओं के चार भेद गिनाए हैं—दिव्या, नृपतिनी, कुल-स्त्री और गणिका। परंतु आगे चलकर ये भेद उतने मान्य नहीं हुए। अन्य शास्त्रकारों ने इस विषय का विवेचन और ही प्रकार से किया है। सर्वमान्य विवेचन नायिका के स्वकीया, परकीया और सामान्या इन तीन भेदों से आरंभ होता है। धनंजय ने भी अपने दशरूपक में इसी का अनुसरण किया है। स्वकीया अपनी और परकीया पराई होती है, तथा सामान्या किसी की स्त्री नहीं होती। सामान्या का दूसरा नाम गणिका या वेश्या भी है।

नायिका

स्वकीया नायिका में शील, आर्जव आदि गुण होते हैं। वह पतिव्रता, चरित्रवती, लज्जावती तथा पति की सेवा में रत होती है। उदाहरण—

स्वकीया

कुलबाला के यौवन विभ्रम औ लावण्य विलास,
पति विदेश जब जाता करते उसके साथ प्रवास।
लौट कंत जब घर आता है आते उसके साथ,
कंत और वे करते उसको दोनों साथ सनाथ॥

[हाला]

करिए दुलही की बड़ाई किती ? मुख सामुहें और के ना उघरै।
कवि भानु प्रिया मुखचंद बिलोकिबे को दुइ नैन चकोर करै।
घरकाज सम्हारत है बिधि सों, कबहूँ नहिं आन को ध्यान धरै।
अपने पिय के हिय मोद भरै अपने हिय में पिय मोद भरै॥

स्वकीया के भी तीन भेद होते हैं—मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा।

मुग्धा नायिका वह है जिसमें नई तरुणाई आ रही हो, अर्थात् जो अभी अभी बाल्यावस्था से यौवनावस्था में पदार्पण कर रही हो और पहले ही पहल कामेच्छा का अनुभव कर रही हो। वह रति से डरती है, क्रोध में भी मृदु होती है तथा बड़ी सरलता से प्रसन्न की जा सकती है। उदाहरण—

पल पल पर पलटन लगे जाके अंग अनूप।
ऐसी इक ब्रजबाल को को कहि सकत सरूप॥

[पद्माकर]

मध्या नायिका 'जवानी की सब कामनाओं से भरी हुई और मोह (मूर्च्छा) की अवस्था तक रति में समर्थ होती है।' (धनंजय) उसमें कुछ कुछ प्रगल्भता आ जाती है और लज्जा कुछ कम हो जाती है; जैसे—

कामवती—

देखे बनै न देखबो, अनदेखे अकुलाहिं।
इन दुखिया अँखियान को, सुख सिरज्योई नाहिं॥

[बिहारी]

केलि-भवन की देहरी, खरी बाल छबि नौल।
काम-कलित हिय-कौल है, लाज-कलित दृग-कौल॥

[मतिराम]

पूर्ण यौवनवती—

चंद कैसो भाग-भाल, भृकुटी कमान-ऐसी,
मैन कैसे पैने सर नैनन-बिलासु है।
नासिका सरोज-गंधवाह से सुगंध-वाह,
दारयों से दसन, कैसो बीजुरी सों हासु है॥

भाईं ऐसी ग्रीवा-भुज, पान सो उदर अरु,
पंकज सों पाँय गति हंस ऐसी जासु है।
देखी है गुपाल एक गोपिका मैं देवता सी,
सोनो सों शरीर सब सौंधे कैसी वासु है॥
[केशवदास]

प्रगल्भा नायिका यौवन में अंध, रति में उन्मत्त, काम-कलाओं में निपुण और नायक में सदा रत होती है और सुरतारंभ में ही आनंद में लीन होकर अचेतन हो जाती है—

राम राम भूलि न कहै, करै कुलाहल घोर।
सिख लीन्हों पिक सारकिन, अरुन-सिखा को सोर॥
[वेनी प्रवीन]

देखी है गुपाल एक गोपिका अनूप रूप,
सोने तस लोनी बास सौंधे ते सुहाई है।
सोभा ही सुहाई अवतारु घनस्याम ! कीधौं,
कीधौं यह दामिनी पै कामिनी ह्वै आई है॥
देवी कोउ दानवी न मानवी न होइ ऐसी,
मान-बिन हाव-भाव भारती पठाई है।
केशोदास सब सुख-साधन की सिद्धि यह,
मेरे जान मैन ही सो मैन की ही जाई है॥
[केशवदास]

मध्या और प्रगल्भा के धीरा, धीराधीरा और अधीरा ये तीन तीन भेद और होते हैं।

मध्या धीरा सहास वक्रोक्ति से, मध्या धीराधीरा आँसुओं के सहित वक्रोक्ति से और मध्या अधीरा क्रोधपूर्वक कटु वचनों से अपने अपराधी पति के हृदय में उसके अपराध के लिये खेद उत्पन्न कराती है।

मध्या धीरा—

पीतम के संग ही उमगि अड़ि जैबे को
न एती अंग अंगन परंद पखियाँ दई।
कहै 'पद्माकर' जे आरती उतारैं चौंर
ढारैं श्रम हारैं पै न ऐसी सखियाँ दई॥
देखि दग द्वै ही सों न नेकहु अघैए इन
ऐसे झुका झुक मैं झपाक झखियाँ दई।
कीजै कहा राम स्याम आनन विलोकिबे को,
बिरचि बिरंचि न अनंत अँखियाँ दई॥

[पद्माकर]

मध्या धीराधीरा—

तुम क्यौं मनुहारत हौ हमको ? हमहीं तुमको मनुहारती हैं।
तुम क्यौं पगु धारण को कहियै ? हम रावरेई पगु धारती हैं॥
पटु लै क्यौं पोछत 'बेनी प्रवीन', कहा अँसुआँ हम ढारती हैं।
उपजै मुकुता नहिं सीपन तें, हम हीं अँखियाँ भरि डारती हैं॥

[बेनी प्रवीन]

मध्या अधीरा—

कोऊ नहीं बरजै मतिराम, रहौ तितही जितही मन भायो।
काहे को सौंहैं हजार करो तुम तौ कबहूँ अपराध न ठायो॥
सोवन दीजै, न दीजै हमैं दुख, योंही कहा रसवाद बढ़ायो।
मान रहोई नहीं मनमोहन, माननी होय सो मानैं मनायो॥

[मतिराम]

प्रगल्भा धीरा अपने क्रोध को छिपाकर बाहर से बातों में बड़ा आदर-सत्कार दिखाती है, पर सुरत में उदासीन रहती है। प्रगल्भा धीराधीरा मध्या अधीरा की भाँति कटु और व्यंग्य वचनों से नायक को खिन्न करती है और प्रगल्भा अधीरा क्रुद्ध होकर उसका तर्जन

और ताड़न करती है, झिड़कती है और शारीरिक दंड भी दे डालती है।

प्रगल्भा धीरा—

आवत देखि लए उठि आगे ह्वै आपुहि 'केशव' आसन दीनो।
आपुहि पाँय पखारि भले जलपान को भाजन लाइ नवीनो॥
बीरी बनाइ कै आगे धरी सु जबै हरि को वर बीजन लीनो।
बाँह गही हरि ऐसो कह्यौ हँसिए तौई तो अवराधन कीनो॥

[केशवदास]

प्रगल्भा धीराधीरा—

छवि छलकन भरी पीक पलकन, त्यौं ही
स्रम-जलकन अलकन अधिकाने च्वै।
कहै 'पदमाकर' सुजान रूपखानि तिया,
ताकि ताकि रही ताहि आपुहि अजानै ह्वै॥
परसत गात मनभावन को भावती की,
गई चढ़ि भौंहैं रही ऐसे उपमानै छ्वै।
मानौ अरविंदन पै चंद को चढ़ाय दीन्हों
मान-कमनैत बिनु रोदा की कमानैं द्वै॥

[पद्माकर]

प्रगल्भा अधीरा—

जाके अंग-अंग की निकाई निरखत आली,
वारनैं अनंग की निकाई कीजियतु है।
कवि 'मतिराम' जाकी चाह ब्रज-नारिन कौं,
देह अँसुवान के प्रबाह भीजियतु है॥
जाके बिनु देखे न परत कल तुम हूँ कौं,
जाके बैन सुनत सुधा सी पीजियतु है।

ऐसे सुकुमार प्रिय नंद के कुमार को यों,

फूलन के मालन की मारु दीजियतु है ।।

[मतिराम]

इस प्रकार मध्या और प्रगल्भा के छः छः भेद हुए। इन छः छः भेदों के भी ज्येष्ठा और कनिष्ठा दो दो भेद और होते हैं। जिस-पर पति का अधिक प्रेम हो वह ज्येष्ठा और जिसपर कम प्रेम हो वह कनिष्ठा कहलाती है। इस प्रकार इन दोनों के बारह बारह भेद होते हैं। मुग्धा एकरूप रहती है, इससे उसके और भेद नहीं होते।

परकीया

परकीया नायिका दो प्रकार की होती है—एक ऊढ़ा और दूसरी अनूढ़ा। ऊढ़ा उसे कहते हैं जिसका विवाह हो गया हो। अनूढ़ा वह है, जिसका विवाह न हुआ हो, जो कुमारी ही हो। प्रधान रस में ऊढ़ा का वर्णन नहीं होना चाहिए, किंतु अनूढ़ा अर्थात् कन्या के अनुराग का उपयोग अंगी (प्रधान) और अंग (अप्रधान) दोनों रसों में हो सकता है।

ऊढ़ा—

गोकुल के कुल के गली के गोप गांउन के

जौ लगि कछू को कछू भारत भनै नहीं।

कहै 'पद्माकर' परोस पिछवारन ते

द्वारन ते दौरि गुन औगुन गनै नहीं ।।

तौ लौं चलि चातुर सहेली आइ कोऊ

कहूँ नीकै कै निचोरै ताहि करत मनै नहीं।

हौं तो स्याम-रंग मैं चुराइ चित चोराचोरी

बोरत तौ बोरयौ पै निचोरत बनै नहीं ।।

[पद्माकर]

अनूढ़ा—

गोप-सुता कहैं गौरि गुसाइँनि, पायँ परौं बिनती सुनि लीजै।
दीन दयानिधि दासी के ऊपर, नेक सुचित्त दयारस भीजै॥
देहि जो ब्याहि उछाह सों मोहनै, मात-पिता हू को सो मन कीजै।
सुंदर साँवरो नंदकुमार, बसै उर जो वह सो बर दीजै॥

[मतिराम]

गणिका

सामान्या नायिका गणिका होती है। वह कलाओं में निपुण, साहसी तथा धूर्त्त होती है। वह केवल धन से प्रेम करती है, और प्रच्छन्न कामुक, आसानी से धन कमानेवाले मूर्ख, पांडु-रोगी, नपुंसक आदि—का जब तक उनके पास धन रहता है तब तक ऐसा मनोरंजन करती है मानो सचमुच उनसे प्रेम करती हो। जब उनकी संपत्ति नष्ट हो जाती है तब उनका निरादर करके उन्हें घर से निकलवा देती है। परंतु गणिका के हृदय में भी सच्चा प्रेम हो सकता है। तब वह वास्तव में गणिका नहीं रह जाती; जैसे, मृच्छकटिक में वसंतसेना का चारुदत्त पर सच्चा प्रेम हो जाता है। वसंतसेना वास्तव में केवल गणिका की पुत्री है, वह वेश्या का व्यवसाय नहीं करती। केवल सच्चे प्रेम के प्रदर्शन के लिये ही रूपकों में वेश्या का आयोजन होना चाहिए। हाँ, प्रहसन में बिना प्रेम के भी उसपर नायक का अनुराग दिखाया जा सकता है।

मध्या और प्रगल्भा के १२ भेद ऊपर दिखाए जा चुके हैं। इनमें मुग्धा का एक, परकीया के दो और सामान्या का एक भेद मिलाकर सब १६ भेद होते हैं। नीचे दी हुई सारिणी से इन भेदों का स्पष्टीकरण हो जायगा।
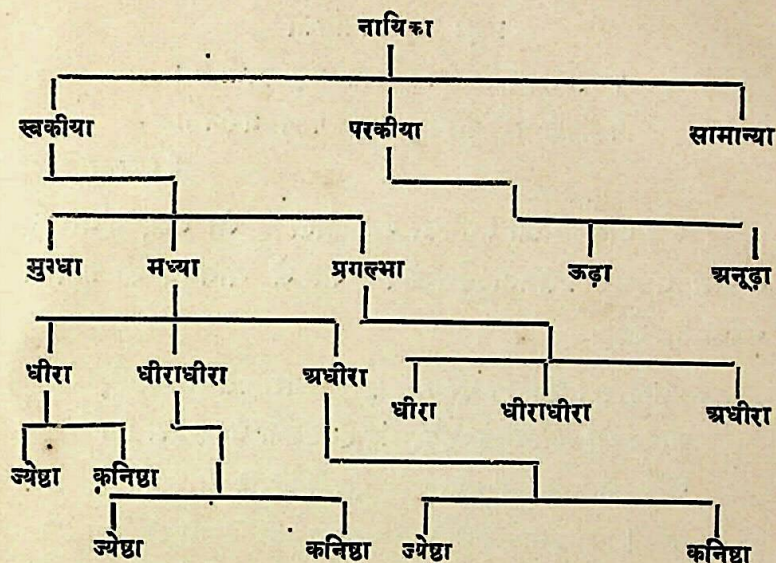
इनके अतिरिक्त नायिका के व्यवहार और दशा-भेद के अनुसार नीचे लिखे आठ भेद और होते हैं—

(१) स्वाधीनपतिका, (२) वासकसज्जा, (३) विरहोत्कंठिता, (४) खंडिता, (५) कलहांतरिता, (६) विप्रलब्धा, (७) प्रोषित-पतिका और (८) अभिसारिका।

(१) स्वाधीनपतिका नायिका वह होती है जिसका पति उसके वश में हो। वह प्रसन्न रहती है क्योंकि उसका पति निरंतर उसके पास रहता है और उसकी सेवा करता है।

मुग्धा स्वाधीनपतिका

तुव अयानपन लखि भट्ट, लट्ट भए नँदलाल।
जब सयानपन पेखिहैं, तब धौं कहा हवाल॥

मध्या स्वाधीनपतिका

आधे आधे दगनि रति, आधे दगनि सुलाज।
राधे आधे बचन कहि, सुबस किए ब्रजराज॥

[बिहारी]

प्रौढ़ा स्वाधीनपतिका

अंगराग औरै अँगन, करत कछू बरजी न।
पै मेंहदी न दिवाइहैाँ, तुमसोँ पगन प्रवीन ॥

[पद्माकर]

(२) वासकसज्जा नायिका वह होती है जो वस्त्र, शृंगारादि से सज धजकर प्रसन्नतापूर्वक अपने पति के आगमन की प्रतीक्षा करती है; जैसे—

वारनि धूपि अँगारनि धूप कै, धूम अँध्यारी पसारी महा है;
आनन चंद समान उयो मृदु, मंद हँसी जनो जोन्ह-छटा है।
फैलि रही 'मतिराम' जहाँ तहाँ, दीपति दीपनि की परभा है;
लाल ! तिहारे मिलाप को बाल ने आजु करी दिन में ही निसा है ॥

[मतिराम]

(३) विरहोत्कंठिता नायिका वह है जिसका पति निश्चित समय के भीतर बिना अपने अपराध के न आ सके और जो इसी कारण से खिन्न हो; जैसे—

नभ लाली चाली निसा, चटकाली धुनि कीन।
रति पाली, आली ! अनत, आए बनमाली न ॥

[बिहारी]

(४) खंडिता नायिका—पति के शरीर पर अन्य स्त्री द्वारा किए हुए संभोग-चिह्नों को देखकर जो ईर्ष्या से जल उठे उस नायिका को खंडिता कहते हैं। खंडिता नायिका का नायक धृष्ट कहलाता है, या यों कहना चाहिए कि नायक के धृष्ट होने से नायिका खंडिता होती है—

जावक लिलार, ओठ अंजन की लीक सोहै,
खैए न अलीक लोक-लीक न बिसारिए।

कवि मतिराम छाती नख-छत जगमगै,
डगमगै पग सूधे मग मैं न धारिए ॥
कस कै उघारत हौ पलक पलक यातैं,
पलका पै पौढ़ि श्रम राति को निबारिए।
अटपटे बैन मुख बात न कहत बनै,
लटपटे पेंच सिर-पाग के सुधारिए ॥
[मतिराम]

(५) कलहांतरिता नायिका पहले तो प्रार्थना करते हुए प्रियतम का निरादर कर देती है परंतु फिर अपने इस कृत्य पर पछताती है—

ठाढ़े भए कर जोरि कै आगे, अधीन ह्वै पांयन सीस नवायो।
केती करी बिनती 'मतिराम' पै मैं न कियो हठ तें मन भायो ॥
देखत ही सिगरी सजनी तुम, मेरो तो मान महामद छायो।
रूठि गयो उठि प्रान-पियारो, कहा कहिए तुमहूँ न मनायो ॥
[मतिराम]

(६) विप्रलब्धा नायिका वह है जिसका प्रियतम (मिलने का) संकेत-स्थान नियत करके भी उससे मिलने न आवे और इस प्रकार जो अपना अपमान समझे। विप्रलब्धा का अर्थ है 'ठगी गई'। उदाहरण—

आई फाग खेलन गुबिंद सों अनंद भरी,
जाको लसै लंक मंजु मखतूल-ताग सैां।
कहै पदमाकर तहाँ ताहि न मिल्यौ स्याम,
छिन मैं छबीली कै अनंग दह्यौ दाग सों ॥
कौन करै होरी कोऊ गोरी समुझावै कहा,
नागरी कों राग लग्यो बिष सों बिराग सों।
कहर सी केसर कपूर लग्यो काल-सम
गाज सों गुलाब लग्यो अरगजा आग सों ॥
[पद्माकर]

(७) प्रोषितप्रिया नायिका वह कहलाती है जिसका पति, किसी काम से, परदेश गया हो। भूत, भावी और वर्तमान तीन प्रकार की प्रोषित-प्रिया नायिकाएँ होती हैं। भूत प्रोषितप्रिया वह है जिसका पति विदेश गया हुआ हो। इसे प्रोषितपतिका कहते हैं। भावी प्रोषित-प्रिया वह है जिसका पति परदेश जानेवाला हो। इसे प्रवत्स्यत्पतिका कहते हैं। वर्त्तमान प्रोषितप्रिया वह है जिसका पति अभी विदेश जा रहा हो। इसे प्रवसत्पतिका कहते हैं।

प्रोषितपतिका—

वहू दूवरी होत क्यों, यौं जव वूझ्यौ सास।
ऊतर कढ़्यौ न बाल-मुख, ऊँचे लेत उसास॥

[मतिराम]

प्रवत्स्यत्पतिका—

क्यों सहिहै सुकुमारि वह, पहलो बिरह गुपाल।
जब वाके चित हित भयो, चलन लगे तब लाल॥

[मतिराम]

प्रवसत्पतिका—

लागि गरे तें बाल के, निकसे ज्यों व्रजराज।
त्यों मोतिन सों कै दियो नैनन मारग साज॥

[मतिराम]

(८) अभिसारिका नायिका वह है जो, कामार्त्त होकर, स्वयं संकेत-स्थान पर जाय अथवा प्रियतम को अपने पास बुलावे। यदि कुल-कामिनी अभिसरण करेगी तो भूषणों के शब्दों को बंद करके दबे पाँव घूँघट काढ़कर जायगी। वेश्या विचित्र और उज्ज्वल वेश धारण करके नूपुरों और कंकणों को झनकारती जायगी। दासी नशे में अटपटी बातें करती हुई, विलास से प्रफुल्ल-नयन और बहकी चाल से अभिसरण करेगी। अभिसरण-स्थान प्रायः खेत, बगीचा,

टूटा मंदिर, दूती का घर, निर्जन स्थान, जंगल, श्मशान या नदी-तट हुआ करते हैं—

मौलसिरी मंजुल की गुंजन की कुंजन की,
मो सो घनश्याम कहि काम की कथै गयो ।
कहै पद्माकर अथाइन को तजि तजि,
गोपगन निज निज गेह के पथै गयो ॥
सोच मति कीजै ठकुरानी हम जानी,
चित चंचल तिहारी चढ़ि चाह के रथै गयो ।
छीन न छपा कर छपाकर-मुखी तूँ,
चल बदन छपाकर छपाकर अथै गयो ॥

[पद्माकर]

स्वाधीनपतिका और वासकसज्जा की विशेषता क्रीड़ा, उज्ज्वलता और हर्ष हैं, और शेष छः प्रकार की नायिकाओं की विशेषता चिंता, निःश्वास, स्वेद, अश्रु, विवर्णता, ग्लानि तथा भूषणों का अभाव है।

नायिका की ये आठों अवस्थाएँ एक दूसरी से भिन्न होती हैं। उनमें आपस में कोई अंतर्भाव नहीं होता। समय समय पर एक ही नायिका की प्रत्येक अवस्था हो सकती है, परंतु दो अवस्थाएँ एक साथ नहीं आ सकतीं। स्वाधीनपतिका वासकसज्जा नहीं है, क्योंकि वासकसज्जा का पति उसके पास नहीं रहता। जिसका पति घर आनेवाला हो (वासकसज्जा), उसे यदि स्वाधीनपतिका मानें तो प्रोषितप्रिया को भी स्वाधीनपतिका मानना पड़ेगा, जिसकी असंगतता स्पष्ट है। प्रिय के समीप होने से वह विरहोत्कंठिता, कलहांतरिता या विप्रलब्धा नहीं है। अपने पति का वह कोई भी अपराध नहीं जानती, इससे खंडिता नहीं है। भोगेच्छा और रति में प्रवृत्त होने के कारण वह प्रोषितप्रिया भी नहीं है। स्वयं पति के पास जाने अथवा पति को अपने पास बुलाने की उसे आवश्यकता नहीं होती,

इससे वह अभिसारिका भी नहीं है। इसी प्रकार विरहोत्कंठिता भी औरों से भिन्न है। पति के आने की अवधि के बीत जाने के कारण वह वासकसज्जा नहीं है। विप्रलब्धा का पति आने की प्रतिज्ञा करके भी धोखा देने के विचार से नहीं आता इसलिये वह विरहोत्कंठिता और वासकसज्जा से भिन्न है। कलहांतरिता को अपने पति का अपराध ज्ञात रहता है, पर वह खंडिता से भिन्न है; क्योंकि उसका प्रिय अनुनय करता है जिसे स्वीकार न करके वह पश्चात्ताप करती है। इस प्रकार धनिक ने अवस्थाओं के अनुसार इस विभाग की संगति दिखाई है।

परकीया की, चाहे वह ऊढ़ा हो या अनूढ़ा, इन आठ अवस्थाओं में से केवल तीन अवस्थाएँ हो सकती हैं। संकेत-स्थान को चलने से पहले वह विरहोत्कंठिता होती है। विदूषक, दूती आदि के साथ संकेत-स्थान पर जाने से वह अभिसारिका होती है; और कदाचित् यदि उसका प्रिय संकेत-स्थान पर न आया तो वह विप्रलब्धा हो जाती है। शेष पाँच अवस्थाएँ परकीया की नहीं हो सकतीं। मालविकाग्निमित्र में रानी के सामने राजा की परवशता देखकर मालविका ने कहा—

"देवी के सामने आपकी धीरता देख ली गई।"

इस पर राजा ने उत्तर दिया—

"है दाक्षिण्य कुलव्रत प्यारी! नायक के प्रतिपालन योग्य।
इसी लिये ये प्राण हमारे बँधे तुम्हारी आशा में॥"

[मालविकाग्निमित्र]

यहाँ मालविका खंडिता नहीं है, क्योंकि राजा का रानी के प्रति पहले के समान प्रेम और आदर उसके दाक्षिण्य का लक्षण है। रानी के प्रति अपना प्रेम स्वीकार करने के साथ साथ वह मालविका से अनुनय करता है, जिससे उसके 'विमानिता' होने का अवसर नहीं रह जाता।

परकीया स्वकीया के प्रति उसके पति के प्रेम को खंडित करती है। वास्तव में परकीया के संबंध से स्वकीया खंडिता होती है, स्वकीया के संबंध से परकीया नहीं। इसी प्रकार प्रिय के विदेश में होने पर भी परकीया प्रोषितपतिका नहीं होती। मिलन के पूर्व देश का व्यवधान परकीया और नायक के बीच सदा रहता है। इस कारण वह मिलन के लिये उत्सुक विरहोत्कंठिता मात्र हो सकती है।

दासी, सखी, धोबिन, घर का काम-काज करनेवाली, नौकरानियाँ, पड़ोसिन, भिक्षुकी, शिल्पिनी (चित्रादि बनानेवाली) नायिका की दूतियाँ होती हैं। कभी कभी नायिका स्वयं भी अपनी दूती बन जाती है। ऐसी अवस्था में वह स्वयं दूती कहलाती है। नायक के सहायकों में जो गुण होते हैं वे इनके लिये भी आवश्यक हैं। इनमें कला-कौशल, उत्साह, स्वामिभक्ति, चित्तज्ञता (दूसरे का अभिप्राय समझने की शक्ति), तीव्र स्मरण-शक्ति, मधुरभाषिता, नर्मविज्ञान का ज्ञान, वाग्मिता आदि गुण होने चाहिएँ।

नायिका की दूतियाँ

सौंदर्य को बढ़ानेवाले स्वाभाविक उपादान अलंकार कहलाते हैं। अलंकारों का अर्थ आभूषण नहीं है। वे प्राकृतिक अदाएँ होती हैं। अलंकार स्त्री और पुरुष दोनों में हो सकते हैं। ऐसे अलंकार जो स्त्री-पुरुषों में समान होते हैं अंगज और अयत्नज कहलाते हैं। स्वभावज अलंकार स्त्रियों की ही विशिष्टता प्रकट करते हैं। भाव, हाव और हेला ये तीन अंगज; शोभा, कांति, माधुर्य, दीप्ति, प्रगल्भता, औदार्य और धैर्य ये सात अयत्नज; और लीला, विलास, विच्छित्ति, विभ्रम, किलकिंचित, मोट्टायित, कुट्टमित, बिब्बोक, ललित और विहृत ये दस स्वभावज अलंकार होते हैं। विश्वनाथ ने साहित्य-दर्पण में आठ स्वभावज

नायिकाओं के अलंकार

अलंकार और बताए हैं। वे हैं—तपन, मुग्धता, विक्षेप, मद, कुतूहल, हसित, चकित और केलि।

अंगज अलंकार—(१) भाव—जन्म से अविकारी चित्त में विकार का उत्पन्न होना भाव कहलाता है।

नखसिख देखि राम कै सोभा। सुमिरि पिता-पनु मनु अति छोभा।
परबस सखिन्ह लखी जब सीता। भएउ गहरु सब कहहिँ सभीता।
धरि बड़ि धीर राम उर आनै। फिरी अपनपौ पितु-बस जानै।
देखन मिसु मृग बिहँग तरु, फिरइ बहोरि बहोरि।
निरखि निरखि रघुबीर-छवि, बाढ़इ प्रीति न थोरि॥

[तुलसीदास]

(२) हाव उस तीव्र रति-विकार को कहते हैं, जो अपनी तीव्रता के कारण शरीर के बाहरी अंगों की विलक्षण विकृति के द्वारा लक्षित होने लगता है, जिससे नजर में, भँवों पर और चाल-ढाल में, एक प्रकार का अनोखापन आ जाता है।—साहित्य-दर्पण के अनुसार इसकी परिभाषा इस प्रकार है—भ्रुकुटी तथा नेत्रादि के विलक्षण व्यापारों से संभोगाभिलाष के सूचक मनोविकारों का अल्प-प्रकाशक 'भाव' हाव कहलाता है; अर्थात् भाव ही तीव्रता पाकर हाव होता है। उदाहरण—

पिय परयंक पधारि कै, पिया पलोटति पाय।
नै नैनन, भौंहन उकसि, पति रति दई बताय॥

(३) हेला—काम-वासना के भाव के अत्यंत स्पष्ट रूप से लक्षित होने को हेला कहते हैं। भाव बढ़कर हाव और हाव बढ़कर हेला हो जाता है।

नासा मोरि नचाइ दृग, करी कका की सौंह।
काँटे सी कसकत हिए, अजौं कटीली भौंह॥

[बिहारी]

अयत्नज अलंकार—(१) शोभा—रूप, भोग (रति) और तरुणाई से अंगों का जो सौंदर्य खिल उठता है उसे शोभा कहते हैं; जैसे—

वह तो निरदोषित रूप तिया बिन सूँघ्यो मनो कोइ फूल नयो ।
नव पल्लव कै नखहू न लग्यो कोइ रत्न किधौं जो बिंध्यो न गयो ॥
फल पुन्नन को है अखंड किधौं मधु है सद कै बिन स्वाद लयो ।
बिधना मत मोहि न जानि परै तेहि चाहत कौन के भागि दयो ॥

[शकुंतला]

(२) कांति—कामोन्मेष से बढ़ी हुई शोभा को कांति कहते हैं; जैसे—

नेत्रे खंजनगंजने सरसिजप्रत्यर्थिपाणिद्वयम्
वक्षोजौ करिकुंभविभ्रमकरीमत्युन्नतिं गच्छतः ।
कांतिः कांचनचंपकप्रतिनिधिर्वाणी सुधास्यन्दिनी
स्मेरेन्दीवरदामसोदरवपुस्तस्याः कटाक्षच्छटा ॥

[साहित्य-दर्पण]

अर्थात्—उस (सुंदरी) के नेत्र खंजन पक्षी को पराजित करनेवाले और दोनों कर कमल के प्रतिस्पर्धी हैं। उसके स्तन, हाथी के मस्तक की शोभा धारण करनेवाले, उन्नत हैं। उसके शरीर की कांति स्वर्ण और चंपक-कुसुम की प्रतिनिधि है; उसकी वाणी पीयूष-वर्षा करनेवाली है; और उसकी तिरछी चितवन खिले हुए नील कमल की माला के समान शोभायमान है।

(३) दीप्ति—अत्यंत विस्तार पाने पर कांति ही दीप्ति कहलाती है; जैसे—

मोचन लागी भुराई की बातनि सौतिनि सोच भुरावन लागी ।
मंजन कै नित न्हाय कै अंग अँगोछि कै बार झुरावन लागी ॥

मोरि मुखै मुसकाय कै चारु चितै 'मतिराम' चुरावन लागी।
ताही सकोच मनो मृगलोचनि लोचन लोल दुरावन लागी॥

[मतिराम]

(४) माधुर्य—इस गुण में उग्रता नहीं होती। इसके कारण नायिका, प्रत्येक अवस्था में, रमणीय लगती है। विपरीत परिस्थितियों में भी उसकी रमणीयता कम नहीं होती। माधुर्य में तीव्रता नहीं होती। तीव्र गुणों का काम आकर्षण है। शोभा, कांति, दीप्ति आदि से जो आकर्षण होता है उसमें प्रतिघात होकर अपकर्ष न आने देना माधुर्य का काम है। उदाहरण—

सरसिज लगत सुहावनो यदपि लियो ढकि पंक।
कारी रेख कलंक हू, लसति कलाधर-अंक॥
पहिरे वल्कल-वसन यह, लागति नीकी बाल।
कहा न भूषण होइ जो रूप लिख्यो विधि भाल।

[शकुंतला]

(५) प्रगल्भता—मन के क्षोभ से उत्पन्न अंग-संकोच का अथवा विकृति के भाव का अभाव होना प्रगल्भता का गुण है। रति के समय नायिका की निर्भयता को भी प्रगल्भता कहते हैं; जैसे—

हिए लगावत हिय लगी, चूमत चूमै बाल।
कुच परसत सरसत सदा, बस कीन्हों नँदलाल॥

(६) औदार्य—सब अवस्थाओं में विनय-युक्त व्यवहार करना औदार्य कहलाता है।

जानत हूँ अपराध कौं, मन नहिँ राख्यौ मान।
सुधा-सने सुख-बैन-युत, दियो प्यार सौं पान॥

(७) धैर्य—आत्मश्लाघा से विहीन मन को अचंचल वृत्ति को धैर्य्य कहते हैं—

प्रति रात्रि नभ में चंद्र पूरण हृदय वरु तापत रहै।
अरु मृत्यु सों आगे करै कहा, मदन चाहे नित दहै॥
मम इष्ट पावन परम, पितु औ मातु-कुल कौ मान है।
तिहि त्यागि बस चहिए न मोहि, प्रानेस औ यह प्रान हैं।

[मालती-माधव]

स्वभावज अलंकार

(१) लीला—नायिका के द्वारा प्रिय के प्रेम-संभाषण, वेश-भूषा तथा चेष्टा का अनुकरण इसके अंतर्गत है। अर्वाचीन आचार्य्यों ने इसके तीन भेद बतलाए हैं—स्वगता, सखीगता और स्वप्रियगता लीला। लीला की जो परिभाषा दी गई है वही स्वगता की है। जब नायिका सखी से नायक का अनुकरण करावे तो सखीगता लीला होती है, और जब वह नायक से नायिका का रूप धारण करावे और चेष्टा करावे तथा स्वयं नायक का रूप धारण करे और उसकी चेष्टाओं का अनुकरण करे तब स्वप्रियगता लीला होती है। उदाहरण—

उन चूनरी लै पहिरी उनकी, उन मोर-पखान की लै कुलही।
उनके मुकुतान की माल लसी, उनकी कटि पीत पटी उलही॥
वह झाँझरी 'बेनी प्रवीन' घनी, दुरि देखिबे को दग हौं जु लही।
दिन दूलह श्याम बने दुलही, अलि दूलह राति बनी दुलही॥

[बेनी प्रवीन]

(२) विलास—प्रिय के दर्शन-मात्र से आकृति, नेत्रों तथा चेष्टाओं में जो विशेषता आ जाती है अथवा जो परिवर्त्तन होता है—

तेरी चलनि चितौनि मृदु, मधुर मंद मुसकानि।
छाय रही लखि लाल की, सखियन मिस अँखियानि॥

[मतिराम]

(३) विच्छित्ति वह अल्प वेश-रचना है जो कांति को बढ़ावे—

आजु गई सिगरी मुँदि वे जे रहीं गुँदि, मोतिन जोतिन जाल मैं।
कंकन किंकिन छाप छरा हरा, हेम हमेल परी हिय चाल मैं॥
टोने पढ़ी कछु 'वेनी प्रवीन', सलोने सरूप किती लखी बाल मैं।
इंदु जित्यौ, अरविंदु जित्यौ, तैं गुबिंदु जित्यौ इक बिंदु दै भाल मैं॥

[वेनी प्रवीन]

(४) विभ्रम—किसी विशेष अवसर पर, उतावली के कारण, भूषण आदि को और की और जगह पहन लेना तथा भ्रांतिपूर्ण आचरण करना—

रही दहेड़ी ढिग धरी, भरी मथनियाँ बारि।
कर फेरति उलटी रई, नई विलोवनिहारि॥

[बिहारी]

पहिरि कंठ बिच किंकिणी, कस्यो कमर बिच हार।
हरबराय देखन लगी, आवत नंद-कुमार॥

[रसवाटिका]

(५) किलकिंचित—प्रिय के संसर्ग आदि से उत्पन्न वह अवस्था जिसमें मुस्कुराहट, हँसी, क्रोध, भय और श्रम का मिश्रण होता है।

छल कै लै गई मिसि संग तहाँ, जहाँ बैठि रह्यो लुकि रास रसी।
गहि केसरि पंक पटीर पटी मुख ऐंचि अचानक आनि घसी॥
वह 'वेनी प्रवीन' नवीन बरंगन रूप अनूप गुमान गसी।
अति चौंक चकी सखि नान बकी तिरछौंहैं तकी मुख मोरि हँसी॥

[वेनी प्रवीन]

(६) मोट्टायित—प्रेम में तन्मय होकर प्रियतम-संबंधी कथा-वार्त्ता सुनना। अर्वाचीन आचार्य्यों के अनुसार मोट्टायित में कामिनी कान खुजलाने आदि की चेष्टाएँ करती है जिससे लोगों को पता न लगे कि वह उस (प्रिय-संबंधी) वार्त्ता का ध्यान-पूर्वक अनुसरण कर रही है।

कछु धुनि सुनि पिय नाम की, चरचा चलत सुनात।
ह्वै कपाट ढिग कान दै, सुनत चाह सौं बात॥

(७) कुट्टमित—अधर, केश, स्तन आदि के छूने से आनंद होने पर भी रोकने के लिये झूठमूठ ही हाथ उठाना या सिर हिलाना और क्रोध प्रकट करना—

प्रीतम को मनभावती, मिलति बाँह दै कंठ।
बाहीं छुटै न कंठ तैं, नाहीं छुटै न कंठ॥

[मतिराम]

(८) बिब्बोक—गर्व के कारण प्रिय वस्तु के प्रति अनादर प्रकट करना। यह अनादर केवल दिखाने भर के लिये होता है, परंतु अंतःकरण से कामिनी उसका सम्मान करती है।

ऐ अहीरवारे! तोसों जोरि कर कोरि कोरि,
बिनय सुनायो बलि बाँसुरी बजावै जनि।
बाँसुरी बजावै तो बजाव, मो बलाय जाने,
बड़ी बड़ी आँखिन तें एकटक लावै जनि।
लावै है तो लाव टक, 'तोष' मो सों कहा काम,
बेर बेर दौरि दौरि मेरी पौरि आवै जनि।
आवै है तो आव, हम आइबो कबूल्यौ, पर
मोरे गोरे गात में तू कारो गात छ्वावै जनि॥

[तोष]

(९) ललित—अपने कोमल अंगों को सुकुमारता के साथ सजाना—

मंद गयंद की चाल चलै कटि किंकिनि नूपुर की धुनि बाजै।
मोती के हारनि सैं हियरो हरि जू के बिलास हुलासनि साजै॥
सारी सुही 'मतिराम' लसै मुख संग किनारी की यैं छबि छाजै।
पूरनचंद पियूष मयूख मनो परवेख की रेख बिराजै॥

[मतिराम]

(१०) विहृत—अनुकूल और उचित अवसर पाने पर भी व्रीड़ा के कारण न कह सकना—

रूप साँवरो साँचु है, सुधा-सिंधु मैं खेल।
लखि न सकैं अँखियाँ सखी, परी लाज की जेल॥

[मतिराम]

(११) मद—सौभाग्य, यौवन आदि के घमंड से उत्पन्न मनोविकार—

मेरे हँसे हँसत हैं, मेरे बोले बोलत हैं,
मोहीं को जानत तन मन धन प्रान री।
कवि 'मतिराम' भौंह टेढ़ी किए हाँसी हूँ मैं,
छोड़ देत भूषन-बसन खान-पान री।
मो तें प्रानप्यारी प्रानप्यारे कें न और कोऊ,
तासों रिस कीजै कहौ कहाँ की सयान री।
मैन-कामिनी के मैनका हू के न रूप रीझे,
मैं न काहू के सिखाएँ आवों मन मान री।

[मतिराम]

(१२) तपन—प्रियतम के वियोग में कामोद्वेग से उत्पन्न चेष्टाएँ—

तजति साँस रोवति हँसति, परी भूमि बेकरार।
लाल तिहारे बिरह में, बाल-बारि पतझार॥

(१३) मुग्धता—जानी-बूझी बात को भी प्रियतम से अनजान होकर पूछना—

लाल, तिहारे संग मैं, खेलै खेल बलाइ।
मूँदत मेरे नैन हौ, करन कपूर लगाइ॥

[मतिराम]

(१४) विक्षेप—वल्लभ (प्रिय) के समीप भूषणों की अपूर्ण रचना अथवा अकारण ही रहस्यमयी दृष्टि से इधर-उधर देखना एवं प्रिय से धीरे से कोई रहस्य की बात कहना—

कच कुच कटि आधे खुले, वेंदी आधी भाल।
पिय-सरवनि कछु भेद की, कथा सुनावति बाल॥

(१५) कुतूहल—रमणीय वस्तु को देखने के लिये चंचल हो उठना—

करत रसोई कामिनी, सुनि पिय आँगन माँहि।
बलि काकन दैवै मिसहिँ, चली चतुर कहँ चाहि॥

(१६) हसित—यौवनोद्गम से उत्पन्न वृथा हास—

सखियन कीन्ह सिंगरवा, रचि बहु भाँति।
हेरति नैन अरसिया, मुहुँ मुसुकाति॥

[रहीम]

(१७) चकित—प्रियतम के सामने बिना कारण डरना या घबराना—

वैठी ही ती पी ढिगै, बोल्यौ गच पै काग।
दौरि दुरी पी-गोद मैं, धनि धनि पी कौ भाग॥

(१८) केलि—विहार के समय कांत के साथ काम-क्रीड़ा—

छीपन छापै अधर को, सुरँग पीक भर लेत।
हँसि हँसि काम-कलोल मैं, पिय मुख ऊपर देत॥

साहित्य-दर्पणकार ने नायिकाओं की अनुराग-चेष्टाओं का भी वर्णन किया है। मुग्धा की अनुराग-चेष्टाएँ वे इस प्रकार बताते हैं—

अनुराग चेष्टाएँ

"पति को देखकर लज्जा दिखलाती है। सम्मुख कभी नहीं देखती। छिपे हुए, घूमते हुए, अथवा दूर खड़े हुए प्रिय को देखती है। बहुत बार पूछने पर वह नीचे मुख करके गद्गद स्वर से मंद मंद कुछ प्रिय बातें बोलती है। अपने प्रिय की कथा को दूसरों से कहे जाने पर बड़े ध्यान से सुनती है।"

इसके अनंतर प्रत्येक नायिका की अनुराग-चेष्टाओं को वे इस प्रकार बताते हैं—

"वह प्रिय के समीप रहने की इच्छा करनेवाली होती है तथा प्रिय के सम्मुख बिना अलंकार धारण किए नहीं जाती। केश अथवा साड़ी को ठीक करने के बहाने से बाहुमूल, स्तन तथा नाभि दिखलाती है। मीठी वाणी से प्रिय के सेवकों को वश में रखती है। उसके (प्रियतम के) मित्रों का विश्वास करती है और उनका मान करती है। उसकी सखियों से उसके गुण का वर्णन करती है तथा अपना धन आदि देती है। उसके सोने के बाद सोती है। उसके दुःख में दुःख और सुख में सुख समझती है। प्रिय के दृष्टिपथ में खड़ी हुई उसे दूर से देखती है और मदन-संतप्त होकर कुटुंबियों से बातें करती है। कोई वस्तु देखकर हँसने लगती है, कान खुजलाने लगती है या केश बाँधने खोलने लगती है। जँभाई लेती है, अँगड़ाती है, अपने बालक को हृदय से लगाकर चुंबन करती है अथवा अपनी सखियों के मस्तक पर तिलक लगाती है। पाँव के अँगूठे से पृथ्वी खोदती है, कटाक्ष से देखती है, अपने अधर चबाती है तथा नीचे मुख करके मधुर भाषण करती है। जहाँ से नायक दिखलाई देता हो उस स्थान को नहीं छोड़ती और किसी न किसी काम के बहाने से उसके घर पर पहुँच जाती है। अपने कांत की दी हुई वस्तु को शरीर पर धारण करके बार बार देखती है और उस वस्तु के संयोग से प्रसन्न होती है तथा उसके वियोग में दुःखी होती है। उसके शील को बहुत मानती है और उसकी प्यारी वस्तु से प्यार करती है। प्रिय से अल्प मूल्य (चुंबनादि) ही चाहती है और सोते समय प्रिय की ओर पीठ करके नहीं सोती। उसके सम्मुख स्तंभ, स्वेद, रोमांच आदि सात्त्विक विकारों का अनुभव करती है। सत्य और मधुर भाषण करती है। इन इंगितों (चेष्टाओं) में नई स्त्रियाँ अधिक लज्जा करती हैं, मध्या कुछ कम लज्जा करती हैं तथा परकीया, प्रगल्भा और गणिका बिलकुल लज्जा नहीं करतीं।"

पाँचवाँ अध्याय

वृत्तियों का विचार

वृत्ति शब्द का साधारण अर्थ है बरताव, काम अथवा ढंग। नाट्य-शास्त्र में नायक, नायिका आदि के विशेष प्रकार के बरताव अथवा ढंग को वृत्ति कहते हैं। प्रवृत्ति, वृत्ति तथा रीति ये तीन साहित्य विद्या के अंग माने गए हैं। काव्यमीमांसा में इनका वर्णन राजशेखर ने इस प्रकार किया है—"तत्र वेषविन्यासक्रमः प्रवृत्तिः, विलासविन्यासक्रमो वृत्तिः, वचनविन्यासक्रमो रीतिः।"—अर्थात् विशेष प्रकार की वेश-रचना को प्रवृत्ति, विलास-प्रदर्शन को वृत्ति और वचन-चातुरी को रीति कहते हैं। 'साहित्य-दर्पण' के टीकाकार तर्कवागीश ने "वर्त्तते रसोऽनयेति वृत्तिः"—जिसके कारण रस वर्त्तमान हो, जो रसास्वाद का प्रधान कारण हो, वह वृत्ति है—इस प्रकार का व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ दिखलाया है।

व्याख्या

अब यह देखना चाहिए कि "विलासविन्यासक्रमो वृत्तिः" इस वाक्य के विलास शब्द का क्या अर्थ है। विलास नायक के गुण को कहते हैं। 'साहित्य-दर्पण' में उसका यह लक्षण लिखा है—

"धीरा दृष्टिर्गतिश्चित्रा विलासे सस्मितं वचः।"

अर्थात् विलास के चिह्न हैं—गम्भीर दृष्टि से देखना, निराली चाल से चलना और मुस्कराकर बातें करना। विलास नायिका के स्वभावज अलंकारों में से भी एक है। वह है—

यानस्थानासनादीनां मुखनेत्रादिकर्मणाम्।
विशेषस्तु विलासः स्यादिष्टसंदर्शनादिना॥

तात्पर्य यह है कि प्रियतम के दर्शन मिलने पर नायिका के आने-जाने में, उठने-बैठने में, हँसने-बोलने में, देखने-सुनने में जो एक प्रकार का निरालापन आ जाता है, एक तरह की अदा पैदा हो जाती है, उसे विलास कहते हैं। इन लक्षणों के अनुसार बोलचाल, उठने-बैठने, तथा चलने-फिरने के अनोखे ढंग को ही विलास कहना उचित जान पड़ता है।

अत: इससे यह सिद्ध हुआ कि नाट्य में यथार्थता और उसके द्वारा सजीवता लाने का प्रयत्न करते हुए नट और नटी सभी पात्रों के वाचिक, आंगिक, आहार्य और सात्त्विक चारों प्रकार के अभिनय की और प्रसंगानुकूल दृश्यों के प्रदर्शन की उस विशेषता को वृत्ति कहते हैं जो नाटकीय रस की अनुभूति में मुख्य सहायक हो। इस प्रकार, भरत मुनि के शब्दों में, वृत्तियों को नाट्य की माताएँ समझना चाहिए—एवमेता बुधैर्ज्ञेया वृत्तयो नाट्यमातरः। वृत्तियाँ चार प्रकार की होती हैं—भारती, कैशिकी, सात्वती और आरभटी।

इनमें से पहली शब्द-वृत्ति और शेष तीन अर्थ-वृत्तियाँ कही जाती हैं। भारती को शब्द-वृत्ति इसलिये कहते हैं कि उसमें वाचिक अभिनय की ही अधिकता रहती है, उसकी योजना के लिये किसी विशेष दृश्य की अवतारणा करने की आवश्यकता नहीं होती। अन्य वृत्तियों में नृत्य, गीत, वाद्य तथा भिन्न भिन्न रसों के अनुरूप भाव और दृश्य दिखलाए जाते हैं। भारती ऋग्वेद से, सात्वती यजुर्वेद से, कैशिकी सामवेद से और आरभटी अथर्ववेद से उत्पन्न मानी गई है। इसका कारण यह है कि ऋग्वेद के कई सूक्तों में संलाप के ऐसे प्रसंग हैं जिनमें सूक्ष्म रूप से नाटक का बीज निहित है। जैसे सरमा और पणियों का संवाद (ऋ० १० । १०८), विश्वामित्र और नदियों का संवाद (ऋ० ३ । ३३), इत्यादि। इसी प्रकार सत्त्व, शौर्य दया आदि भावों से संबंध रखनेवाली सात्वती की देवमंत्रों से पूर्ण यजुः से, नृत्य-

गीत-बहुल कैशिकी की संगीतमय साम से, और वध, बंध, संग्राम, क्रोध, इंद्रजाल, माया आदि उद्धत तथा भीषण भावों से भरी आरभटी की मारण, मोहन, उच्चाटन आदि आभिचारिक क्रियाओं के वर्णन से व्याप्त अथर्व से उत्पत्ति मानना उचित ही है।

जैसा पहले कहा जा चुका है, नायक के व्यापार के आधार पर ये वृत्तियाँ होती हैं। हम पहले अर्थ-वृत्तियों के संबंध में विचार करेंगे। कैशिकी वृत्ति उसे कहते हैं जिसमें गीत, नृत्य, विलास, रति इत्यादि आवें। इसमें स्त्रियों के व्यापार भी सम्मिलित होते हैं। इन्हीं सब बातों के कारण यह वृत्ति मधुर मानी गई है।

कैशिकी वृत्ति

कैशिकी के चार भेद होते हैं—(१) नर्म, (२) नर्मस्फूर्ज, (३) नर्मस्फोट, (४) नर्मगर्भ।

(१) नर्म—प्रिय को प्रसन्न करनेवाली परिहास-पूर्ण क्रीड़ा को नर्म कहते हैं। नर्म में अशिष्ट या ग्राम्य परिहास वर्जित है। नर्म के भी तीन भेद होते हैं। पहले में केवल हास्य होता है इसलिये उसे हास्य-नर्म कहते हैं। दूसरे में शृंगार-पूर्ण परिहास होता है इसलिये उसे शृंगार-नर्म कहते हैं और तीसरे में भय-युक्त परिहास होता है जिससे उसे भय-नर्म कहते हैं।

शृंगार-नर्म के आत्मोपक्षेप-नर्म, संभोग-नर्म और मान-नर्म ये तीन उपभेद और भय-नर्म के शुद्ध और रसांतरांगभूत ये दो उपभेद होते हैं।

आत्मोपक्षेप-नर्म प्रिय के प्रति अपना अनुराग निवेदन करने के उद्देश्य से होता है; जैसे—

लगत असाढ़ कहत हो, चलन किसोर।
घन घुमड़े चहुँ ओरन, नाचत मोर॥

मोहन जीवन-प्यारे, कसि हित कीन।
दरसन ही कों तरफत, ये दृग-मीन॥

[रहीम]

संभोग-नर्म—कामाभिलाष प्रकट करने के निमित्त; यथा—

जाइ पलंका पीच के, बैठी दाबति पांय।
जमुहाती लखि बिहँसि पिय, लई गरे सों लाय॥

मान-नर्म—अपराधी पति के ताड़न के लिये; उदाहरण—

जहँ जागेउ सब रैनियां, तहवां जाउ।
जोरि नैन निरलजवा, कत मुसकाउ॥
पौढ़हु पीय पलँगिश्रा, मीड़उँ पाय।
रैन जगे कर निदिश्रा, सब मिटि जाय॥

[रहीम]

शुद्ध भय-नर्म—इसका उदाहरण रत्नावली के दूसरे अंक में मिलता है, जहाँ चित्र को देखकर सुसंगता हँसी में कहती है—

"चित्रपट के सहित मैं इस सारे वृत्तांत को जान गई हूँ। मैं यह सब जाकर देवी से कहूँगी।" इत्यादि।

शृंगारांतर्गत भय-नर्म—

साँझ समै वा छैल की, छलनि कही नहिं जाय।
बिन डर बन डरपाय कैं, लई मोहिं उर लाय॥

[मतिराम]

इस प्रकार नर्म के ६ भेद होते हैं। यह परिहास वाणी, वेश और चेष्टा तीनों से हो सकता है। अतएव इन ६ भेदों में से प्रत्येक के—वाणी, वेश और चेष्टा इन माध्यमों के आधार पर—तीन तीन भेद होते हैं। सब मिलाकर १८ भेद हुए।

वाणी-नर्म का उदाहरण—

गौन के द्यौस सिँगारन को 'मतिराम' सहेलिन को गनु आयौ।
कंचन के बिछुवा पहिरावत, प्यारी सखी परिहास बढ़ायौ॥
"पीतम स्त्रौन समीप सदा बजै", यों कहिकै पहिले पहिरायौ।
कामिनी कौल चलावनि कौं, कर ऊँचो कियौ, पै चल्यौ न चलायौ॥

[मतिराम]

वेश-नर्म—विदूषकों की वेश-भूषा हास्योत्पादक हुआ करती है। नागानंद नाटक में विदूषक शेखरक की वेश-भूषा ऐसी ही हास्योत्पादक थी।

चेष्टा-नर्म—मालविकाग्निमित्र में निपुणिका स्वप्न देखते हुए विदूषक के ऊपर एक छड़ी फेंकती है। विदूषक उसे सर्प समझता है और ऐसी चेष्टा करता है जिससे सब हँसने लगते हैं।

(२) नर्मस्फूर्ज या नर्मस्फिंज—नायक-नायिका के प्रथम सम्मिलन का सुख से आरंभ होना तथा भय से अंत होना नर्मस्फूर्ज या नर्मस्फिंज कहलाता है। जैसा मालविकाग्निमित्र में प्रथम सम्मिलन के अवसर पर अग्निमित्र के मालविका से यह कहने पर कि मैं बहुत काल से तेरे प्रेम में अनुरक्त हूँ, तू उन्मुक्त लता की तरह मुझसे लिपट जा, वह उत्तर देती है कि देवी (रानी) के भय से मैं अपना इष्ट कार्य भी नहीं कर सकती। यहाँ पर इस सम्मिलन से प्रसंन्न हुए नायक-नायिका के सामने अंत में रानी का भय उपस्थित हो जाता है।

(३) नर्मस्फोट—थोड़े भावों से सूचित अल्प रस को नर्मस्फोट कहते हैं। जैसे मालती-माधव में मकरंद के नीचे लिखे कथन में—

चलत में यह अति ही अलसात।
देह न करति वृष्टि सुखमा की सूनी दृष्टि लखात॥
चिंतातुर सो साँस भरत छिन छिन दूनौ दरसावै।
कारण का ? यहि के सिवाय कछु और समझ नहिं आवै॥

अवसि रही फिरि भुवन भुवन में मनमथ-विजय-दुहाई।
जोर मरोर भरी जोबन-नदि यहि तन में उमड़ाई॥
प्रकृतिमधुर रमनीय भाव जब जोबन-ज्योति प्रकासैं।
बरबस मन बस करत धीरता धीरज हू की नासैं॥

[मालती-माधव]

यहाँ माधव की चाल-ढाल से प्रकाशित थोड़े भाव से मालती के प्रति उसका अनुराग किंचित् मात्रा में प्रकट होता है।

(४) नर्मगर्भ—नायक का गुप्त व्यवहार। जैसे प्रियदर्शिका के गर्भांक में वत्सराज का वेश धारण की हुई सुसंगता के स्थान पर स्वयं वत्सराज का आ जाना। अथवा—

एकै थल बैठी हुतीं, दोऊ प्यारी बाम।
मूँदि नैन इक के, उलटि, चूमी अपरहिँ स्याम॥

भी इसका अच्छा उदाहरण है। वैसे ही मालती-माधव में माधव सखी के रूप में जाकर विरह-पीड़िता मालती के छूटते हुए प्राणों की रक्षा करता है और मालती को इस बात का पता नहीं चलता।

नायक का व्यापार जहाँ शोकरहित, सत्त्व, शौर्य, दया, त्याग और आर्जव-सहित हो वहाँ सात्वती वृत्ति होती है। इसके चार प्रकार होते हैं—(१) संलापक, (२) उत्थापक, (३) सांघात्य और (४) परिवर्त्तक।

सात्वती वृत्ति

(१) संलापक नाना प्रकार के भाव और रसों से युक्त गंभीर उक्ति या वार्त्तालाप को कहते हैं; जैसे—

"राम—निश्चय यह कार्त्तिकेय को जीतने पर सपरिवार प्रसन्न हुए महादेव का हजार वर्ष तक उनके शिष्य रहनेवाले तुमको दिया हुआ परशु है।

परशुराम—हे राम! यह मेरे गुरु महादेवजी का प्यारा वही परशु है। शस्त्र-परीक्षा के दिन गणों से घिरे हुए कुमार कार्त्तिकेय को मैंने हराया

था। इसी से प्रसन्न होकर मेरे गुरु गुणों के प्रेमी भगवान् शंकर ने प्रसाद रूप में यह परशु दिया था।"

[वीरचरित]

राम और परशुराम की यह गंभीर उक्ति-प्रत्युक्ति नाना प्रकार के भावों और रसों से युक्त है, इसलिये संलापक है।

(२) उत्थापक—जहाँ नायक दूसरे को युद्ध के लिये ललकारे या उभाड़े वहाँ उत्थापक होता है। जैसे लक्ष्मण का रावण को ललकारना—

रे खल का मारसि कपि-भालू। मोहिँ बिलोकु तोर मैं कालू॥

[तुलसीदास]

(३) सांघात्य—जहाँ मंत्र के, धन के, या दैवी शक्ति के बल से किसी संघात (समाज) में फूट या भेद-भाव डाल दिया जाय वहाँ सांघात्य होता है; जैसे मुद्राराक्षस में 'राक्षस' के सहायकों में चाणक्य ने अपने बुद्धि-बल से भेद-बुद्धि उत्पन्न कर दी। यह मंत्र-शक्ति का उदाहरण हुआ। इस उदाहरण में मंत्र का अर्थ 'विचार' लिया गया है। राक्षस के हाथ पर्वतक के कपड़े पहुँचाकर चाणक्य ने अर्थ-शक्ति के द्वारा मलयकेतु का उससे भेद करवाया। रामायण में विभीषण का रावण से फूट जाना राम की दैवी शक्ति का उदाहरण है।

(४) परिवर्त्तक—हाथ में लिए हुए काम को छोड़कर दूसरा काम आरंभ करना परिवर्त्तक कहलाता है; जैसे—

परशुराम—

गणपति के मूसलसम दंतन सों अंकित है,
बानन षडानन व्रणदानन सुहाई है।
अद्भुत वीर-लाभ सों, सुवस्त्र धारि पुलकनि कों
छाती मम उत्सुक, तोहि भेटिवे को धाई है॥

राम—भगवन्! आलिंगन तों प्रस्तुत व्यापार (युद्ध) के विरुद्ध है।

[वीरचरित]

आरभटी वृत्ति में माया, इंद्रजाल, संग्राम, क्रोध, उद्भ्रांति, प्रस्ताव आदि बातें होती हैं। जो वस्तु वास्तव में न हो उसे मंत्र के बल से प्रकट कर दिखलाना माया कहलाता है। तंत्रबल या हाथ की सफ़ाई से कुछ का कुछ कर दिखाना इंद्रजाल होता है। उद्भ्रांति चकित होकर चक्कर काटते रहने अथवा घूमते रहने को कहते हैं।

आरभटी वृत्ति

आरभटी वृत्ति चार प्रकार की होती है—(१) संक्षिप्ति, (२) संफेट, (३) वस्तूत्थापन और (४) अवपात।

(१) संक्षिप्ति—धनंजय के अनुसार शिल्प के योग से संक्षिप्त वस्तु-रचना संक्षिप्ति कही जाती है। धनिक ने इस पर टीका करते हुए संक्षिप्ति की व्याख्या की है 'मिट्टी, बाँस, पत्तों और चमड़े के द्वारा वस्तु का उत्थापन' अर्थात् अपने कला-कौशल द्वारा इन उपादानों से नाना प्रकार की वस्तुएँ बनाना। उन्होंने इसका उदाहरण बताया है उदयनचरित में बाँस का बना हाथी। मिस्टर हास ने इसका अर्थ कुछ और ही किया है। उसने इसका कथानक या विषय अर्थ लगाया है। धनंजय ने इसके विषय में, बिना नाम दिए ही, और आचार्यों की भी सम्मति दी है। उनके अनुसार संक्षिप्ति पहले नायक के चले जाने पर दूसरे नायक की उसके स्थान पर प्रतिष्ठा करना है। जैसे बालि के निधन हो जाने पर सुग्रीव का नायक बनना। धनिक ने अपनी टीका में इसी से यह भी अर्थ लिया है कि पात्र की एक अवस्था की निवृत्ति पर दूसरी अवस्था का आना, अर्थात् पात्र की मनोवृत्ति का बदल जाना; जैसे, वीरचरित में परशुराम का उद्धतता को त्यागकर शांतता ग्रहण करना।

(२) संफेट—इसमें क्रोध से उत्तेजित दो व्यक्तियों का पारस्परिक युद्ध होता है; जैसे, मालती-माधव में माधव और अघोरघंट का या

रामायणीय कथा के आधार पर लिखे गए नाटकों में मेघनाद और लक्ष्मण का।

(३) वस्तूत्थापन—माया मंत्र आदि से उत्पन्न की हुई वस्तु।

पलँग सहित अनिरुद्ध को, मंत्र चलाइ उड़ाय।
ल्याई बानासुर महल, ऊषै दई मिलाय॥

[उषा-अनिरुद्ध]

(४) अवपात—इसमें निष्क्रमण (जाना), प्रवेश, भय और भागना ये बातें होती हैं। इसका उदाहरण मालती-माधव के तीसरे अंक में मिलता है—

(बुद्धरक्षिता घबड़ाई हुई आती है।)

बुद्ध०—बचाना ! बचाना ! नंदन की बहन सखी मदयंतिका इस व्याघ्र के पंजे में फँस गई है। उसके साथ के सब लोग भाग गए। जो लोग साहस कर आगे बढ़े उन्हें इस दुष्ट श्वापद ने मार डाला। बस अब शीघ्र कोई आओ और उस बेचारी को बचाओ।

माधव—(देखकर) ओहो !

लटकंत टूटी, मुख अंत्रजाल,
आवत मृगेंद्र क्रुद्धत विशाल।
परे रुंड मुंड कृत खंड खंड,
फरकत कटि हालति भुज उदंड॥
वह रुधिर-पंक-पूरण लखात,
जहँ पिंडुरी लों पग धँसे जात।
होगो कछु को कछु करि उताल,
अब यह मारग भयो अति कराल॥

[मालती-माधव]

प्रियदर्शिका में विंध्यकेतु पर किए गए आक्रमण के समय का कोलाहल भी इसका उत्तम उदाहरण है।

भारती वृत्ति 'दशरूपक' में भारती वृत्ति का यह लक्षण दिया है—

> भारती संस्कृतप्रायो वाग्व्यापारो नटाश्रयः ।
> भेदैः प्ररोचनायुक्तैर्वीथीप्रहसनामुखैः ॥

अर्थात् भारती वृत्ति वह है जिसमें वाग्व्यापार या बातचीत संस्कृत में हो, जो नट के आश्रित हो तथा जिसके प्ररोचना के अतिरिक्त वीथी, प्रहसन और आमुख भेद होते हैं।

साहित्य-दर्पण में इसका लक्षण इस प्रकार लिखा है—

> भारती संस्कृतप्रायो वाग्व्यापारो नराश्रयः ।
> तस्याः प्ररोचना वीथी तथा प्रहसनामुखे ॥
> अंगान्यत्रोन्मुखीकारः प्रशंसातः प्ररोचना ।

भरत मुनि ने अपने नाट्य-शास्त्र में भारती वृत्ति का वर्णन इस प्रकार किया है—

> या वाक्प्रधाना पुरुषप्रयोज्या स्त्रीवर्जिता संस्कृतवाक्ययुक्ता ।
> स्वनामधेयैर्भरतैः प्रयुक्ता सा भारती नाम भवेत्तु वृत्तिः ॥

इन तीनों लक्षणों के मिलाने से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारती वृत्ति उस रूपक-रचना-शैली या भाषा-प्रयोग की विशेषता का नाम है जिसे भरत अर्थात् नट लोग प्रयोग में लाते हैं, नटियाँ नहीं; और जिसमें संस्कृत भाषा के वाक्यों की अधिकता रहती है। धनंजय और साहित्य-दर्पणकार विश्वनाथ की परिभाषा तो प्रायः मिलती-जुलती है, केवल धनंजय का 'नटाश्रयः' विश्वनाथ में आकर 'नराश्रयः' हो गया है। इसके कारण का भी अनुमान किया जा सकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि आरंभ में नट लोग सभासदों को प्रसन्न करने तथा उनके मन को मुग्ध करके नाटक की ओर आकृष्ट करने के लिये मुख्य वस्तु के पूर्व ही इसका प्रयोग करते थे। पीछे से नाटक के और और अंशों में भी इसके प्रयोग का विधान होने लगा,

जिससे 'नटाश्रयः' के स्थान पर 'नराश्रयः' हो गया। भारती वृत्ति के चार अंगों में से प्ररोचना और आमुख का संबंध स्पष्ट ही पूर्व रंग से है। प्ररोचना प्रस्तुत विषय की प्रशंसा करके लोगों की उत्कंठा बढ़ाने के कृत्य को कहते हैं और आमुख आपस की बात-चीत के द्वारा कौशल-पूर्वक मुख्य नाटकीय वस्तु के आरंभ करने के कृत्य को कहते हैं। पर भारती वृत्ति के संबंध में वीथी और प्रहसन की व्याख्या आचार्यों ने स्पष्ट रूप से नहीं की है। हाँ, वीथी के तेरह अंग अवश्य बताए हैं, जिनका संबंध उतना पूर्व रंग से नहीं है जितना कि स्वयं रूपक के कथानक से। प्रहसन और वीथी रूपक के भेदों में भी आए हैं। प्रहसन में एक ही अंक होता है जिसमें हास्य-रस प्रधान रहता है। वीथी में भी एक ही अंक होता है, पर प्रधानता शृंगार रस की होती है। दोनों का इतिवृत्त कवि-कल्पित होता है। अनुमान से ऐसा जान पड़ता है कि आरंभ में प्रहसन और वीथी भी प्रस्तावना के अंग मात्र थे। हँसी या मसखरेपन की बातें कहकर अथवा उनके विशेष प्रयोग से युक्त किसी छोटे से कथानक को लेकर तथा शृंगार-रस-युक्त और विचित्र उक्ति-प्रत्युक्ति से पूर्ण किसी कल्पित पात्र को लेकर दर्शकों का चित्त प्रसन्न किया जाता था। ऐसा जान पड़ता है कि प्रस्तावना के समय अनेक उपायों से सामाजिकों के चित्त को प्रसन्न करके नाटक देखने की ओर उनकी रुचि को उन्मुख और उत्कंठित करना नटों का विशेष कर्त्तव्य समझा जाता था। पीछे से प्रहसन और वीथी ने स्वतंत्र रूप धारण कर लिया और वे रूपक के भेद-विशेष माने जाने लगे। अथवा यह भी हो सकता है कि आमुख और प्ररोचना तो नाटक के प्रति आकृष्ट करने के लिये और वीथी तथा प्रहसन मध्य या अंत में सामाजिकों की रुचि को सजीव बनाए रखने के लिये प्रयोग में आते रहे हों। आजकल भी किसी अन्य रस के नाटक के आरंभ, मध्य,

अथवा अंत में दर्शकों के मनोविनोद के लिये फ़ार्स (जिसके लिये प्रहसन भी उपयुक्त शब्द है) खेला जाता है। पर धनंजय का यह कथन, कि वीथ्यंगों के द्वारा सूत्रधार अर्थ और पात्र का प्रस्ताव करके प्रस्तावना के अंत में चला जाय और तब वस्तु का प्रपंचन आरंभ करे, इस अनुमान के विरुद्ध पड़ता है। इससे तो यही ज्ञात होता है कि संपूर्ण भारती वृत्ति का प्रयोग वस्तु-प्रपंचन के पूर्व ही होता था। फिर भी वीथी और प्रहसन को अन्य रूपकों के अंग एवं स्वतंत्र रूपक दोनों मानने में कोई आपत्ति नहीं देख पड़ती।

यह भी हो सकता है कि विश्वनाथ का 'नराश्रय:' धनंजय के 'नटाश्रय:' का नहीं वरन् भरत के 'स्त्रीवर्जिता' का स्थानापन्न हो। भारती वृत्ति में स्त्रियों का पात्रत्व इसलिये वर्जित है कि एक तो भारती वृत्ति संस्कृत-प्रधान होती है और भारतीय नाट्य-शास्त्र के अनुसार स्त्रियों को प्राकृत में बोलना चाहिए। दूसरे उसमें मसखरेपन की बातें होती हैं और स्त्रियों के साथ बढ़ बढ़कर मसखरेपन की बातें करना हिंदू-समाज में स्त्रियों के लिये विहित आदर और शिष्टता के भावों के विपरीत है। भारती वृत्ति के अंगों का विवेचन आगे दिया गया है।

धनंजय ने पहली तीन वृत्तियों को ही सच्ची या क्रिया-वृत्ति माना है, भारती वृत्ति को नहीं। नाटकीय व्यापार से भारती वृत्ति का कोई संबंध नहीं, वह केवल वाचिक वृत्ति मात्र है।

इसके अतिरिक्त उत्वट और उनके अनुयायियों ने एक पाँचवीं वृत्ति भी मानी है। इसको उन्होंने अर्थवृत्ति संज्ञा दी है परंतु अन्य नाट्याचार्यों ने उसे मान्य नहीं समझा है।

नाट्य-शास्त्रों में इस बात पर भी विचार किया गया है कि पात्रों को किस भाषा में बोलना चाहिए। साधारणत: दो विभाग किए गए हैं—संस्कृत और प्राकृत। उच्च पुरुषों, संन्यासिनियों, योगियों और कहीं कहीं महारानी,

भाषा-प्रयोग

मंत्रियों की कन्याओं तथा वेश्याओं के लिये संस्कृत में बोलने का विधान है। रसार्णव-सुधाकर में लिखा है कि संस्कृत का प्रयोग देवताओं, मुनियों, नायकों, ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वणिकों, शूद्रों, मंत्रियों, कंचुकियों, संन्यासियों, विट आदि धूर्तों तथा योगियों को करना चाहिए। उसमें यह भी लिखा है कि कहीं कहीं रानियों, वेश्याओं, मंत्रिकन्याओं, पढ़ी-लिखी स्त्रियों, योगिनियों, अप्सराओं तथा शिल्पकारिणियों को संस्कृत भाषा के प्रयोग की आज्ञा दी गई है। प्राकृत के अनेक भेद और उपभेद मानकर उनके प्रयोगों के नियम दिए गए हैं। साधारणतः स्त्रियों को प्राकृत में ही बोलना चाहिए। मध्यम और अधम लोगों को शौरसेनी, नीचों को मागधी, राक्षसों तथा पिशाचों को पैशाची और चांडालों आदि को अपभ्रंश भाषाएँ बोलनी चाहिएँ। इन नियमों में बहुत कुछ मतभेद है। साहित्य-दर्पणकार ने एक एक जाति के लोगों के लिये एक एक भाषा तक का निर्देश कर दिया है, पर गिनती गिनाते गिनाते हारकर यह कह दिया है कि "यद्देश्यं नीचपात्रं तु तद्देश्यं तस्य भाषितम्।" अर्थात् नीच पात्र जिस देश का हो, उसकी भाषा भी उसी देश की होनी चाहिए। यह भी कहा है—"कार्यतश्चोत्तमादीनां कार्यो भाषाविपर्ययः।"—उत्तम पात्रों की भी भाषा प्रयोजनानुसार बदल देनी चाहिए। इससे यही सिद्धांत निकलता है कि आचार्यों का यही उद्देश्य था कि नाटक में बातचीत ऐसी हो, जिसमें वास्तविकता का अनुभव होने लगे। भाषा-विभाग के मूल में यही सिद्धांत निहित है। पर आगे चलकर नाटक लिखनेवाले लकीर के फकीर हो गए; और बोलचाल की भाषा में कैसे परिवर्त्तन हो गया, इसका ध्यान न रखकर उसी पुरानी पद्धति का अनुकरण करते रहे।

साधारणतः सब लोग सबका नाम लेकर नहीं बुला सकते। इसमें सदा से बड़े, छोटे और बराबरवालों का विचार रखा गया

है तथा शिष्टता और विनय के अनुरोध से सब देशों में अपने अपने ढंग की प्रथा प्रचलित है। हमारे नाट्य-शास्त्रकारों ने भी इस प्रथा का आदर किया है और इसके लिये नियम बना दिए हैं। ये नियम तीन विभागों में विभक्त हो सकते हैं—अर्थात् पूज्य, कनिष्ठ और समान लोगों में व्यवहारोपयोगी निर्देश-शब्द।

निर्देश-परिभाषा

पूज्य के प्रति निर्देश-वचन

निर्देशक	निर्दिष्ट	निर्देश-वचन
	देवता, मुनि, संन्यासी बहुश्रुत	भगवन्
	इनकी स्त्रियाँ	भगवती
	ब्राह्मण	आर्य
	वृद्ध	तात
	उपाध्याय	आचार्य
	गणिका	अज्जुका
	भूपाल	महाराज
	विद्वान्	भाव
ब्राह्मण	नराधिप	नाम लेकर
परिजन	नृपति	भट्ट, भट्टारक
भृत्य, प्रजा	"	देव
मुनि	"	राजा अथवा अपत्य प्रत्यय लगाकर; जैसे, पृथा के पुत्र को पार्थ, गंगा के पुत्र को गांगेय।
विदूषक	राजा	सखे, राजन्
ब्राह्मण	सचिव	अमात्य, सचिव

निर्देशक	निर्दिष्ट	निर्देश-वचन
सारथि	रथी	आयुष्मन्, आर्य
	साधु, महात्मा	तपस्विन्, साधो
	युवराज	स्वामिन्
	कुमार	भर्तृदारक
	भगिनीपति	आवुत्त
	सेनापति	श्याल
परिचारक	रानी	भट्टिनी, स्वामिनी, देवी, भट्टारिका
राजा	महिषी	देवी
"	अन्य रानियाँ	प्रिया
पुत्र	पिता	तातपाद
"	माता	अंब
	ज्येष्ठ भ्राता	आर्य
	मातुल	"

समान के प्रति निर्देश-वचन

पुरुष	पुरुष	वयस्य
स्त्री	स्त्री	हला, सखी

कनिष्ठ के प्रति निर्देश-वचन

गुरुजन	सुत, शिष्य आदि	दीर्घायु, वत्स, पुत्र, तात
"	अन्य जन	शिल्प अथवा अधिकार का नाम लेकर, या भद्र, भद्रमुख
	नीच	हंडे
	अति नीच	हंजे
स्वामी	भृत्य	नाम लेकर

नाट्य-शास्त्रों में इस बात का भी विवेचन किया गया है कि कैसे पात्र का कैसा नाम रखना चाहिए। जैसे वेश्याओं के नाम ऐसे रखने चाहिएँ जिनके अंत में दत्ता, सिद्ध या सेना शब्द हों; जैसे, वसंतसेना। रसार्णव-सुधाकर में इसका विस्तृत विवरण दिया है।

नाम-परिभाषा

छठा अध्याय

रूपक की रूप-रचना

किसी नाटक की मुख्य कथा को आरंभ करने के पहले कुछ कृत्यों का विधान है। इन्हें पूर्वरंग कहते हैं। इसमें वे सब कृत्य सम्मिलित हैं, जिन्हें अभिनय करनेवाले नाटक आरंभ करने के पहले रंगशाला के विघ्नों को दूर करने के लिये करते हैं। भरत मुनि ने इन बातों का वर्णन विस्तार से किया है। उनके अनुसार सबसे पहले नगाड़ा बजाकर इस बात की सूचना दी जाती है कि अब नाटक आरंभ होनेवाला है। इसके अनंतर गानेवाले और बाजा बजानेवाले रंग-मंच पर आकर अपने यंत्र आदि को ठीक करते तथा उनके सुर आदि मिलाकर उन्हें बजाते हैं। तब सूत्रधार रंगमंच पर फूल छिटकाता हुआ आता है। उसके साथ एक सेवक पानी का पात्र और दूसरा इंद्र की ध्वजा लिए रहता है। सूत्रधार पहले उस जल-पात्र से पानी लेकर अपने को पवित्र करता और ध्वजा को हाथ में लेकर रंग-मंच पर टहलता तथा स्तुति-पाठ करता है। इस स्तुति-पाठ को नांदी कहते हैं। इसके अनंतर वह उस देवता की स्तुति करता है जिसके उत्सव के उपलक्ष में नाटक होने-वाला है अथवा राजा या ब्राह्मण की वंदना करता है। नांदी के समाप्त हो जाने पर 'रंगद्वार' नामक कृत्य का आरंभ होता है, जिससे नाटक के आरंभ की सूचना होती है। सूत्रधार श्लोक पढ़ता और इंद्र की ध्वजा की वंदना करता है। फिर पार्वती और भूतों की

पूर्वरंग, प्रस्तावना आदि

प्रसन्नता के लिये नृत्य होता है और सूत्रधार, विदूषक तथा सूत्रधार के सेवक में बातचीत होती है। अंत में नाटक के कथानक की सूचना देकर सूत्रधार और विदूषक आदि चले जाते हैं। भरत मुनि के अनुसार इसके अनंतर स्थापक का प्रवेश होता है। इसका रूप, गुण आदि सूत्रधार के ही समान होता है और यह अपने वेश से इस बात का आभास देता है कि नाटक का विषय देवताओं से संबंध रखता है अथवा मनुष्यों से। यह सुंदर छंदों द्वारा देवताओं आदि की वंदना करता, नाटक के विषय की सूचना देता हुआ नाटक के नाम तथा नाट्यकार के गुण आदि का वर्णन करता और किसी उपयुक्त ऋतु का वर्णन करके नाटक का आरंभ करा देता है।

भरत मुनि के पीछे के नाट्यकारों ने इन सब व्यापारों को बहुत सूक्ष्म रूप दे दिया है। धार्मिक कृत्यों का उन्होंने कहीं उल्लेख नहीं किया है। उनके अनुसार नाटक का आरंभ नांदी-पाठ से होता है, जिसमें देवता, ब्राह्मण तथा राजा की आशीर्वाद-युक्त स्तुति की जाती है। इसमें मंगल वस्तु, शंख, चंद्र, चक्रवाक और कुमुद आदि का वर्णन रहता है तथा यह ८ या १२ पदों या पादों (चरणों) का होता है। वास्तव में ऐसी स्तुति को 'रंगद्वार' कहना चाहिए। यह नांदी नहीं है, क्योंकि इसमें तो नाटक का अवतरण ही हो जाता है। नांदी तो नटों के स्वरूप-रचना किए बिना मंगल-पाठ मात्र करने को मानना चाहिए। इसमें नाटक के विषय का सूक्ष्म आभास मिल जाता था। जैसे मुद्राराक्षस के नांदी में छल-कपट की तथा मालती-माधव के नांदी में शृंगार रस की सूचना मिल जाती है। नांदी-पाठ के अनंतर रंगद्वार का आरंभ होता है, जिसमें स्थापक आकर काव्य की स्थापना करता है। यदि वर्णनीय वस्तु दिव्य होती है तो देवता का रूप रचकर, यदि अदिव्य होती है तो मनुष्य का वेश धारण करके और यदि मिश्र होती है तो दोनों में से किसी

एक का रूप धारण करके आता है। वह वस्तु, बीज, मुख या पात्र की सूचना देता है। यद्यपि शास्त्रों में इन सब विधानों के स्थापक द्वारा किए जाने का नियम है, पर वास्तव में यही देखने में आता है कि सूत्रधार ही इनको करता है। वही नांदी-पाठ करता है और जिसके उपलक्ष में नाटक होनेवाला है उसका उल्लेख करके पारिपार्श्वक या अपनी पत्नी अथवा विदूषक का आह्वान करके बातचीत आरंभ कर देता है; तथा प्रायः किसी ऋतु आदि के वर्णन के साथ कवि तथा उसके नाटक की सूचना देकर प्रधान नाटक का श्रीगणेश करा देता है। इन कृत्यों का संपादन करने में उसे भारती वृत्ति का अनुसरण करना चाहिए जिसमें दर्शकों का चित्त आकर्षित हो जाय। भारती वृत्ति की परिभाषा पाँचवें अध्याय में दी जा चुकी है।

भारती वृत्ति के चार अंग माने गए हैं—प्ररोचना, वीथी, प्रहसन और आमुख। जहाँ प्रस्तुत की प्रशंसा करके लोगों की उत्कंठा बढ़ाई जाती है, उसे 'प्ररोचना' कहते हैं। प्रशंसा चेतन और अचेतन के आश्रय से दो प्रकार की होती है। देश-काल की प्रशंसा अचेतनाश्रय कही जाती है और कथानायक, कवि, सभ्य तथा नटों की प्रशंसा चेतनाश्रय। अपने संबंध में कवि अपनी प्रकृति के अनुसार चार प्रकार से प्ररोचना का प्रयोग करते हैं। प्रकृति के अनुसार कवि भी चार प्रकार के होते हैं—उदात्त, उद्धत, प्रौढ़ एवं विनीत।

भारती वृत्ति के अंग

(१) उदात्त कवि मन में छिपे हुए अभिमान से भरी हुई उक्ति का प्रयोग करते हैं। जैसे मालविकाग्निमित्र में सूत्रधार का यह वचन—

"प्राचीन जानि कदापि वस्तुन दोषहीन न मानिए।
पुनि दोषयुत नव-ग्रंथ को जनि मित्र कबहुँ बखानिए॥

विद्वान पंडित नर सदा गुन-दोष आप बिचारहीं।
ते मूढ़ छोड़ विवेक जो पर बात नित हिय धारहीं ॥"

[मालविकाग्निमित्र]

(२) उद्धत कवि दूसरों के अपवाद करने पर अपने उत्कर्ष का कथन करते हैं। जैसे मालती-माधव में सूत्रधार का यह कथन—

"निदरत करि उपहास जे, लखि यह रचना-साज।
समझि लेहुँ ते यतन यह, नहिं किंचित् तिन काज॥
उपजै मति कोऊ सुहृद, मो गुन परखनहार।
है यह समय अगाध बहु, औ अपार संसार॥"

[मालती-माधव]

अथवा चंद्रावली में भारतेंदु हरिश्चंद्र के ये वचन—

"परम प्रेमनिधि रसिकवर, अति उदार गुन खान।
जगजनरंजन आशु कवि, को हरिचंद समान॥
जिन श्री गिरिधरदास कवि, रचे ग्रंथ चालीस।
ता सुत श्री हरिचंद को, को न नवावै सीस॥
जग जिन तृन सम करि तज्यौ, अपने प्रेम प्रभाव।
करि गुलाब सों आचमन, लीजत वाको नाँव॥
चंद टरै सूरज टरै, टरैं जगत के नेम।
यह दृढ़ श्री हरिचंद को, टरै न अविचल प्रेम॥"

[चंद्रावली]

(३) प्रौढ़ कवि अपने उत्कर्ष का कथन किसी युक्ति से अथवा स्पष्ट करते हैं। जैसे करुणाकंदला में कवि का यह वचन—

"भारद्वाज सुकवि ने अपने यश से विश्व जगाया है।
वाणी रसिक, रसों के मर्मों का व्यवहार दिखाया है॥

जिसकी वाणी रसिकजनों के हृदय उल्लसित करती है।
उसकी शुभ आनंद मूर्त्ति महिमा गुणिगण-मन हरती है।।"

[करुणाकंदला]

(४) विनीत कवि विनयपूर्वक अपने अपकर्ष का उल्लेख करते हैं। जैसे तुलसीदासजी ने रामचरितमानस में किया है—

"कवि न होउँ नहिं बचन-प्रबीनू। सकल कला सब बिद्या-हीनू॥
आखर अरथ अलंकृति नाना। छंद प्रबंध अनेक बिधाना॥
भावभेद रसभेद अपारा। कबित दोप-गुन बिबिध प्रकारा॥
कबित-बिबेक एक नहिं मोरे। सत्य कहौं लिखि कागद कोरे॥
भनिति मोरि सब गुन-रहित, बिस्व-बिदित गुन एक।
सो बिचारि सुनिहहिं सुमति, जिन्ह के बिमल बिबेक॥"

[रामचरितमानस]

इसी प्रकार सभ्य भी दो प्रकार के कहे गए हैं—प्रार्थनीय और प्रार्थक। प्रार्थनीय सभ्य वे कहे गए हैं जिनके आगमन के लिये नाट्य-प्रयोक्ता उत्कंठित रहते हैं और जिनके आने से वे अपने को सम्मानित समझते हैं। प्रार्थक वे हैं जो नाटक देखने के लिये उत्कंठित रहते हैं तथा उसके लिये नाट्य-प्रयोक्ताओं के अनुगृहीत होते हैं।

उक्त प्ररोचना के संक्षिप्त और विस्तृत नाम के दो भेद होते हैं। रत्नावली में सूत्रधार का यह वचन संक्षिप्त प्ररोचना का उदाहरण है—

"कवि श्रीहर्ष निपुन अति भारी। गुन-गाहक सब सभा मझारी॥
वत्सराज कर कथा मनोहर। तापर खेल करहिं हम सुंदर॥
इन चारन में एकहु बाता। होत सकल शुभ फल करि दाता॥
हम चारों पाई एक बारा। धन्य आज है भाग हमारा॥"

[रत्नावली]

बाल-रामायण नाटक की प्ररोचना विस्तृत है। वीथी और प्रहसन के विषय में पहले कहा जा चुका है। इनके द्वारा उत्कंठा बढ़ाकर सूत्रधार नटी, पारिपार्श्वक या विदूषक के साथ प्रस्तुत विषय पर विचित्र उक्तियों द्वारा वार्त्तालाप करता और बड़े कौशल से नाटक का आरंभ करा देता है। इसे आमुख कहते हैं। आमुख के प्रस्तावना और स्थापना नाम के दो भेद माने गए हैं। जिसमें कतिपय वीथ्यंगों का प्रयोग होता है उसे स्थापना कहते हैं। शृंगार-रस के नाटकों में आमुख, वीर और अद्‌भुत-रस के नाटकों में प्रस्तावना, तथा हास्य, वीभत्स और रौद्ररस के नाटकों में स्थापना की योजना की जाती है। यह कार्य तीन प्रकार से संपन्न किया जा सकता है; अतः इसके तीन अंग हैं—

(१) कथोद्घात—जहाँ सूत्रधार के वचन या उसके भाव को लेकर कोई पात्र कुछ कहता हुआ रंग-मंच पर आ जाता है और नाटक प्रारंभ कर देता है। जैसे; रत्नावली में सूत्रधार के इस पद को

"द्वीपन जलनिधि मध्य सों, अरु दिगंत सों लाय।
मनचाही अनुकूल बिधि, छन महँ देत मिलाय॥"

दोहराता हुआ यौगंधरायण रंग-मंच पर आकर अपना कथन आरंभ कर देता है। यह तो सूत्रधार के वचनों ही को लेकर उससे नाटक का आरंभ करना है। जिसमें केवल उसका भाव लिया जाता है, उसका उदाहरण वेणीसंहार में है। सूत्रधार कहता है—

शत्रुशमनकृत सुखी रहें श्रीकृष्ण सहित पांडव बाँके।
क्षिति सरुधिर कर, व्रणित देह, हों स्वस्थ पुत्र कुरु राजा के॥

[वेणीसंहार]

इस पर भीम यह कहता हुआ आता है—

"अरे दुरात्मा, यह मंगल-पाठ वृथा है। मेरे जीते जी धार्त्तराष्ट्रों का स्वस्थ रहना कैसा ?"

(२) प्रवृत्तक या प्रवर्तक—जहाँ सूत्रधार किसी ऋतु का वर्णन करे और उसी के आश्रय से किसी पात्र का प्रवेश हो। जैसे—

घन तमीकर पावस भेद के,
प्रगट चंद्र हुआ नभ में अभी।
शरद प्राप्त हुआ शुभ कांति से,
निधन रावण का करि राम ज्यों॥

इसमें शरत्काल और राम की तुलना करने के कारण शरत्काल के आगम का वर्णन होते ही उसी समय राम का भी प्रवेश होता है।

(३) प्रयोगातिशय—जहाँ सूत्रधार प्रविष्ट होनेवाले पात्र का "यह देखो इनके समान" या "यह तो अमुक व्यक्ति हैं" इत्यादि किसी ढंग से साक्षात् निर्देश करे उसे प्रयोगातिशय कहते हैं। जैसे मालविकाग्निमित्र के—

परिषद की शुभ आज्ञा का पालन वैसे ही करता हूँ।
जैसे देवि धारिणी के आदेश सदा सिर धरता हूँ॥

इस पद के द्वारा सूत्रधार "मैं परिषद् की आज्ञा को वैसे ही पूरा करना चाहता हूँ जैसे धारिणी देवी की आज्ञा को उनका यह परिजन" यह कहता हुआ परिजन के प्रवेश की सूचना देता है।

अथवा जैसे शाकुंतल के—

लै बरबस तेरौ गयो मधुर गीत मुहि संग।
ज्यौं राजा दुष्यंत कों लायो यहै कुरंग॥

इस पद में सूत्रधार ने अपनी उपमा साक्षात् दुष्यंत से देकर उसके आने की सूचना दी है।

साहित्य-दर्पण में प्रस्तावना के पाँच भेद गिनाए हैं—उद्घातक, कथोद्घात, प्रयोगातिशय, प्रवर्तक और अवगलित। उद्घातक का यह लक्षण दिया है—अभिप्रेत अर्थ के बोधन में असमर्थ पदों के साथ

अपने अभिलषित अर्थ की प्रतीति कराने के लिये जहाँ और पद जोड़ दिए जायँ वहाँ उद्घातक प्रस्तावना होती है। जैसे, मुद्राराक्षस में सूत्रधार कहता है—

"चंद्र-विंब पूरन भए क्रूर केतु हठ दाप।
बल सों करिहै ग्रास कह......"

इस पर नेपथ्य से यह कहता हुआ कि "मेरे जीते चंद्र को कौन बल से ग्रस सकता है" चाणक्य प्रवेश करता है। प्रयोगातिशय के ऊपर दिए हुए लक्षण से साहित्य-दर्पण का लक्षण भिन्न है। साहित्य-दर्पण में प्रयोगातिशय का यह लक्षण दिया है—"यदि एक प्रयोग में दूसरा प्रयोग आरंभ हो जाय और उसी के द्वारा पात्र का प्रवेश हो तो वह प्रयोगातिशय है।" जैसे कुंदमाला में सूत्रधार नटी को बुलाने जा ही रहा था कि उसने नेपथ्य में "आर्या! इधर इधर" की आवाज सुनी। इस पर यह कहते हुए कि "कौन आर्या को पुकारकर मेरी सहायता करता है" उसने नेपथ्य की ओर देखा और यह पद पढ़कर लक्ष्मण और सीता के प्रवेश की सूचना दी—

"किया निवास भवन में लंकापति के सीता ने बहु काल,
इसी लोक-अपवाद-भीति से दुःखित हो कौशिल्या-लाल।
बाहर किया नगर से यद्यपि गर्भवती थीं शुभगीता,
लक्ष्मण के सँग चली जा रहीं वन को वैदेही सीता॥"

[कुंदमाला]

जहाँ एक प्रयोग में किसी प्रकार के सादृश्य आदि की उद्भावना के द्वारा किसी पात्र के प्रवेश की सूचना दी जाय, उसे "अवगलित" कहते हैं; जैसे, शकुंतला में सूत्रधार ने यह कहकर—

"लै बरबस तेरौ गयो मधुर गीत मुहि संग।
ज्यौं राजा दुष्यंत कों लायो यहै कुरंग॥"
[शाकुंतल]

दुष्यंत के प्रवेश की सूचना दी है।

इससे स्पष्ट है कि दशरूपक का 'प्रयोगातिशय' वही है जो साहित्य-दर्पण का 'अवगंलित' है। कथोद्घातक और उद्घातक में इतना ही भेद है कि एक में सूत्रधार के वचन या भाव को लेकर पात्र का प्रवेश होता है और दूसरे में सूत्रधार के अन्यार्थक कथन को अपने मन के अर्थ में लेता हुआ पात्र आता है। दोनों में जो कुछ अंतर है वह यही है।

नखकुट्ट का कहना है कि नेपथ्य का वचन या आकाशभाषित सुनकर उसके आशय पर भी नाटकों में पात्रों का प्रवेश कराया जाता है।

भारती वृत्ति के अंतर्गत वीथी के तेरह अंग होते हैं जिनका विव-
वीथी के अंग रण इस प्रकार है—

(१) उद्घात्यक—गूढ़ार्थक शब्द तथा उनके पर्यायवाची अन्य शब्दों का अर्थ समझने के लिये जो प्रश्नोत्तरमाला हो अथवा वस्तु-विशेष के ज्ञान के लिये जो प्रश्नोत्तरमाला हो उसे उद्घात्यक कहते हैं। पहले भेद का उदाहरण—

"विदूषक—हे मित्र! यह कामदेव कौन है जो तुम्हें भी दुःख देता है? क्या वह पुरुष है या स्त्री?

राजा—हे सखा! मन ही जिसकी जाति है, जो स्वच्छंद है और सुख ही में जिस पर चला जाता है, स्नेह के ऐसे ललित मार्ग का ही नाम कामदेव है।

विदूषक—मैं तो यह भी नहीं जानता।

राजा—मित्र, वह इच्छा से उत्पन्न होता है।

विदूषक—क्या, जो जिस वस्तु को चाहता है वही उसके लिये काम है?

राजा—और क्या!

विदूषक—तब तो जान गया, जैसे रसोई-घर में मैं भोजन की इच्छा करता हूँ।"

[विक्रमोर्वशीय]

दूसरे भेद का उदाहरण—

श्लाघनीय क्यों होते गुणिजन?—क्षमा धर;
कौन निरादर? निजकुलवाले जिसे करें।
कौन दुखी है?—पर का आश्रय लेनेवाला;
स्स्तुत्य कौन नर है?—आश्रय देनेवाला॥
जीवित भी कौन मृतक है?—दास व्यसन का;
शोक-विहीन है कौन?—मर्दक अरिजन का।
हैं धन्य कौन नर इस तथ्य-ज्ञान से युत?—
विराट नगर में छिपे हुए जो पांडु-सुत॥

[पांडवानंद]

पांडवानंद में इस प्रश्नोत्तरमाला से पात्रों (पांडवों) का प्रवेश किया गया है।

(२) अवगलित—जहाँ एक के साथ सादृश्य आदि के कारण दूसरे कार्य का साधन हो या प्रस्तुत व्यापार में कोई दूसरा ही व्यापार हो जाय वहाँ अवगलित होता है। जैसे उत्तर-रामचरित में गर्भिणी सीता को वन में घूमकर ऋषियों के आश्रमों को देखने की इच्छा होती है। परंतु इससे दूसरे ही कार्य का साधन हो जाता है। इस इच्छा की पूर्त्ति के बहाने वह अपवाद के कारण जंगल में छोड़ दी जाती है।

अथवा छलित राम में जैसे—

राम—लक्ष्मण ! मैं पिताजी से रहित अयोध्या नगर में विमान पर चढ़कर जाने में असमर्थ हूँ, इसलिये उतरकर चलता हूँ।

वह देखो ! सिंहासन के नीचे पादुकाओं के सामने अक्षमाला पहने हुए तथा चँवर डुलाते हुए कोई जटाधारी शोभित है।

यहाँ रथ के उतरने के कार्य से भरत के दर्शन रूप दूसरे कार्य की सिद्धि हुई।

साहित्य-दर्पणकार ने इन दोनों को प्रस्तावना के अंतर्गत माना है और वीथ्यंगों में भी इनका उल्लेख किया है।

(३) प्रपंच—असत्कर्मों के कारण एक दूसरे की उपहास-पूर्ण अल्प प्रशंसा। परस्त्री-गमन आदि में चातुर्य्य असत्कर्म में सम्मिलित है। कर्पूरमंजरी में भैरवानंद का यह कथन इसका उदाहरण है—

रंडा चंडा दीक्षिता विहित नारि हमारी।
मांस मद्य खाते पीते हैं अति बलकारी॥
है भिक्षावृत्ति चर्म का शय्यासन न्यारा।
कौल धर्म यह, भाई, किसे न लगता प्यारा॥

(४) त्रिगत—जिसमें शब्दों की श्रुति-समता (एक से उच्चारण) के कारण अनेक अर्थों की कल्पना हो। इसकी सत्ता पूर्वरंग में नट आदि तीन पात्रों के संलाप से होती है। जैसे विक्रमोर्वशीय में—

कुसुम-रसों से मतवाले भौंरे कोयल करते गुंजार।
जैसे देव-सभा में बैठी गाती हों. किन्नरी बहार॥

(५) छलन—देखने में प्रिय पर वास्तव में अप्रिय वाक्यों द्वारा धोखा देना। अन्य शास्त्रकारों के मत से किसी के कार्य को लक्ष्य करके धोखा देनेवाले हास्य अथवा रोषकारी वचन बोलना छलन है। जैसे, वेणीसंहार में भीम अर्जुन दोनों कहते हैं—

जूए में छल, लाक्षागृह में अग्नि-प्रदाता अभिमानी,
ज्येष्ठ भ्रात दुःशासन आदिक सौ का, कर्ण-मित्र मानी।
कृष्णा का कच-वस्त्र-विकर्षक, पांडव जिसके दास बने,
कहाँ गया दुर्योधन ऐसा, आए हम उससे मिलने॥

(६) वाक्केली—किसी वक्तव्य बात को कहते कहते रुक जाना। जैसे, उत्तर-रामचरित में वासंती की उक्ति—

"तुमही प्रियप्रान सबै कछु हौ तुमही मम दूजो हियो सुकुमारी।
तुमही तन काज सुधा सरिता इन नैननि कों तुमही उजियारी॥
हिय भोरे कि यों ही लई भरमाइ के बात वनाय वनाय पियारी।
पुनि ता सिय कों—
बस मौन भलो, अब होत कहा कहिबे तें अगारी॥"

अथवा दो तीन व्यक्तियों की हास्यजनक उक्ति-प्रत्युक्ति जैसे, रत्नावली में—

"विदूषक—मदनिके! मुझे भी यह चर्चरी (एक प्रकार का छंद) सिखाओ।

मदनिका—कमबख्त! यह चर्चरी नहीं है, इसे द्विपदी खंड कहते हैं।
विदूषक—क्यों जी! इस खंड से क्या लड्डू बनाए जाते हैं?
मदनिका—नहीं! यह पढ़ा जाता है।"

कुछ लोगों का कहना है कि जहाँ अनेक प्रश्नों का एक ही उत्तर हो वहाँ भी वाक्केली ही होती है।

(७) अधिबल—दो व्यक्तियों का बढ़ बढ़कर स्पर्धा-युक्त बातें करना। जैसे वेणीसंहार में अर्जुन धृतराष्ट्र और गांधारी को प्रणाम करते हैं—

सकल शत्रु के जय की आशा जहाँ बँधी थी।
जिसके बल पर सृष्टि एक तृण सम समझी थी॥

उस राधासुत कर्ण वीर को मारनहारा।
अर्जुन तुमको है प्रणाम करता जग न्यारा॥

इसके पश्चात् दुर्योधन कहता है कि मैं तुम्हारे समान आत्म-श्लाघी नहीं हूँ किंतु—

मेरे गदा-प्रहार से, वक्ष-अस्थि कर चूर।
देखेंगे बांधव तुझे, रण में फाँकत धूर॥

(८) गंड—प्रस्तुत विषय से संबंध रखने पर भिन्न अर्थ का सूचक त्वरा-युक्त वाक्य; जैसे, उत्तर-रामचरित में—

"गृह की यहि गृह लच्छिमी पूरन सुखमा साज।
अमृत सराई सुभग यहि इन नयनन के काज॥
तन परसत ऐसी लगे जनु चंदन-रस-धार।
यहि भुज सीतल मृदुल गल मानहु मोतिन हार॥
कछू न जाको लगत अस जहाँ न सुख संजोग।
किंतु दुसह दुख को भरयौ केवल जासु वियोग॥"

(प्रतीहारी का प्रवेश)

प्रती०—उपस्थित है, महाराज।
राम—अरे कौन ?
प्र०—आपका चर, दुर्मुख।

यहाँ पर राम के मुख से अंतिम शब्द वियोग निकलते ही प्रतीहारी ने आकर कहा—'उपस्थित है महाराज!' और यद्यपि प्रतीहारी का यह अर्थ नहीं, फिर भी पाठक इससे वियोग का उपस्थित होना, यह अर्थ निकाल लेते हैं। इससे एक दूसरा ही वृत्तांत आरंभ हो जाता है।

(९) अवस्यंदित—सीधे सीधे कहे हुए किसी वाक्य का दूसरे ही प्रकार से अर्थ लगा लेना; जैसे, छलित राम में—

"सीता—हे पुत्रो ! कल सवेरे तुम दोनों को अयोध्या जाना है। वहाँ जाकर राजा को विनयपूर्वक नमस्कार करना।

लव—माता ! क्या हमें भी राजा का आश्रयजीवी होना पड़ेगा ?

सीता—पुत्रो, वह तुम दोनों के पिता हैं।

लव—क्या रघुपति हमारे पिता हैं ?

सीता—(सशंक होकर) तुम्हारे ही नहीं, वे सारी पृथ्वी के पिता हैं।"

यहाँ पर सीताजी अनजान में कह गईं कि राम तुम्हारे पिता हैं। परंतु उन्हें पता चला कि मैंने गोप्य बात खोल दी है तो उन्होंने यह कहकर कि वे तुम्हारे ही नहीं सारी पृथ्वी के पिता हैं, और असल बात को प्रकट होने से बचाने के लिये 'पिता' शब्द का दूसरा ही अर्थ लिया।

(१०) नालिका गूढ़ भाववाली हास्य-पूर्ण पहेली को कहते हैं; जैसे, मुद्राराक्षस के पहले अंक में—

"दूत—अरे ब्राह्मण ! क्रोध मत कर, सभी सब कुछ नहीं जानते, कुछ तेरा गुरु जानता है, कुछ मुझ जैसे लोग जानते हैं।

शिष्य—(क्रोध से) मूर्ख ! क्या तेरे कहने से गुरुजी की सर्वज्ञता उड़ जायगी।

दूत—भला ब्राह्मण ! जो तेरा गुरु सब जानता है तो बतला कि चंद्र किसको अच्छा नहीं लगता।

शिष्य—मूर्ख ! इसको जानने से गुरु का क्या काम ?

इन बातों को सुनकर चाणक्य समझ जाता है कि 'मैं चंद्रगुप्त के वैरियों को जानता हूँ। यह कोई गूढ़ वचन से कहता है'।"

(११) असत्प्रलाप—बे सिर-पैर की बात कहना अथवा ऐसा उत्तर देना जो असंबद्ध हो; या मूर्ख के आगे ऐसे हित-वचन कहना जिन्हें वह न समझता हो। स्वप्न में बर्राते हुए की, पागल की,

उन्मत्त की और शिशु की कही हुई वे सिर-पैर की बातें इसमें आती हैं; यथा—

देहु हंस मोरी पिया, छीनि लई गति जासु।
आधी चोरी के मिले, सकल देइबो तासु॥

अथवा

खाए शैल, पिया वियत, किया अग्नि में स्नान।
हरिहर ब्रह्मा सुत अतः, यह मम नृत्य-विधान॥

(१२) व्याहार—दूसरे का प्रयोजन सिद्ध करने के लिये हास्य-पूर्ण और लोभकारी वचन कहना; जैसे, मालविकाग्निमित्र में लास्य के प्रयोग के अनंतर—

(मालविका जाना चाहती है)

विदूषक—अभी नहीं। उपदेश से शुद्ध होकर जाना।

इसी उपक्रम में गणदास विदूषक से कहता है—

आर्य! यदि तुमने इनके कार्य में क्रमभंग पाया हो तो बताओ।

विदूषक—पहले ब्राह्मण की पूजा का नियम है, इसका इन्होंने उल्लंघन किया है। (मालविका हँसती है।)

यहाँ पर नायक को विश्रब्ध नायिका के दर्शन कराने के प्रयोजन से हास्य और लोभकारी वचन कहे गए हैं, इसलिये व्याहार है।

(१३) मृदव वहाँ होता है जहाँ दोष गुण और गुण दोष समझ पड़ें; जैसे, शकुंतला में मृगया के दोष इस प्रकार गुण बनाकर कहे गए हैं—

सेनापति—

कछु मेद कटे अरु तुंदि घटे छुटि के तन धावन जोग बने।
चितवृत्ति पशून की जानि परे भय क्रोध में लेति लपेट घने॥
अति कीरति है धनुधारिन की चलतो यदि बान तें बेझो हनें।
मृगया तें भलो न बिनोद कोई ताहि दोषन माहिं वृथा ही गनें॥

वीथी और प्रहसन का एक ही उद्देश्य है—सामाजिकों की रुचि को अभिनय की ओर आकृष्ट करना। अतएव साहित्य-दर्पणकार के अनुसार वीथी के अंग प्रहसन के अंग भी हो सकते हैं। हाँ, इतना भेद अवश्य है कि वीथी में उनकी योजना अवश्य होनी चाहिए; पर प्रहसन में उनकी सत्ता ऐच्छिक होती है। किंतु रसार्णव-सुधाकर में प्रहसन के इनसे भिन्न दस और ही अंग माने गए हैं। यथा—अवगलित, अवस्कंद, व्यवहार, विप्रलंभ, उपपत्ति, भय, अनृत, विभ्रांति, गद्गद वाणी और प्रलाप। इनके लक्षण और उदाहरण इस प्रकार हैं—

प्रहसन के अंग

(१) अवगलित—जिस आचार या व्यवहार को ग्रहण कर लिया हो उसको, अज्ञान अथवा मोह के कारण, छोड़ देना अथवा उसमें दोष निकालना; जैसे, आनंदकोश नाम के प्रहसन में—

जिन गल से नीचे बालों को लोग कटाते, उन्हें रखा,
सिर ऊपर जिन केशों को रखते हैं लोग, उन्हें मुँड़वा।
सब जग से कर दिए आचरण हैं विरुद्ध इस ब्रह्मा ने,
हाय भोगने योग्य वयस छीनी हरड़ी ने गीता ने॥

यहाँ यति-आश्रम ग्रहण करके कोई भ्रष्ट यति उसे दोष देता है। अथवा जैसे प्रबोध-चंद्रोदय में क्षपणक कहता है—

शोभित अति कुच पीन सों, भीत मृगी सम नैन।
तौ कापालिनि जौ रमौं, भाव हमें भावै न॥

यहाँ क्षपणक का मोह-वश अपने मार्ग को छोड़ना ही अवगलित है।

(२) अवस्कंद—अनेक पुरुषों द्वारा किसी एक अयोग्य वस्तु के संबंध में अपनी अपनी योग्यता के अनुसार कथन; जैसे, प्रहसन में—

यति—कुचन मध्य अंतर जु है, द्वैतवाद कहि देत।
बौद्ध—सौगत मैं चित देन को, शुद्ध भाव अति हेत॥

जैन—दृष्टि करत पावन परम, बाहुमूल को वेप।
सब—नाभिमूल में भरि रहा, जग सिद्धांत अशेप॥

यहाँ यति, बौद्ध और जैनों का वेश्या के अंगों में अपने अपने सिद्धांत-धर्म-संबंधी कथन से अपने अपने पक्ष को ग्रहण करना ही अवस्कंद है।

(३) व्यवहार—दो तीन पुरुषों का हास्योत्पादक स्वसंवाद; जैसे, प्रहसन में—

बौद्ध—(यति को देखकर) हे एकदंडी ! सिर क्यों मुँड़ाया है ?

मिथ्यातीर्थ—(देखकर स्वगत) यह क्षणिकवादी बोलने योग्य नहीं है, फिर भी दंड छिपाकर इसे निरुत्तर करूँगा। (प्रकाश) अरे शून्यवादी ! मैं विना दंड के और गले तक विना बालवाला हूँ।

जैन—(अपने मन में) यह निश्चय मायावादी है। अच्छा, मैं भी कुछ छिपाकर इससे पूछता हूँ। (प्रकाश) अरे महापरिणामवादी ! बृह-द्बीज ! बालों की एक जाति होते हुए भी कुछ के रखने और कुछ के कटवाने का क्या कारण है ?

मिथ्यातीर्थ—जीता हुआ अमेध्य अंग को धारण करनेवाला यह नर-पिशाच बोलने योग्य नहीं है।

निष्कच्छकीर्ति—(आदर के साथ) मित्र ! आर्हतमुनि ! इस वाद में तुमने मायावादियों के प्रतिपत्ति नामक रक्षास्थान का आश्रय लिया है।

मिथ्यातीर्थ—(मन में) निश्चय इन दोनों ने भी हमारे समान चिह्न धारण मात्र कर रखा है। (पीपल की जड़ में बैठता है)।

यहाँ यति, बौद्ध, जैन के संवाद के कारण 'व्यवहार' है।

(४) विप्रलंभ—जहाँ भूत के प्रवेश या बहाने से छल किया जाय; जैसे, एक प्रहसन पंचतंत्र में एक ब्राह्मण को बकरा ले जाते देखकर तीन ठगों का छल—

पहला ठग--अरे ब्राह्मण ! यह कुत्ता कहां ले जा रहे हो ?

ब्राह्मण--अरे मूर्ख ! यह बकरा है। (आगे बढ़ता है)

दूसरा ठग—राम राम ! तुम ब्राह्मण होकर कुत्ता सिर पर ले जा रहे हो ?

ब्राह्मण--(बकरे को अच्छी तरह देखकर) अरे पागल ! यह बकरा है।

तीसरा ठग—अरे महाराज ! शरीर पर यज्ञोपवीत और सिर पर कुत्ता ?

(ब्राह्मण अपनी दृष्टि में दोष समझकर बकरा पटक कर चल देता है।)

(५) उपपत्ति—उपपत्ति वहाँ होती है जहाँ किसी प्रसिद्ध बात को लोकप्रसिद्ध युक्ति से हास्य का विषय बनाया जाय—

उस तनुमध्या का चरण, पीपल-दल सम जानि।
वृत्तन महँ अश्वत्थ हूँ, नारायण लइ मानि॥

(६) भय—नगर-रक्षकों आदि के कारण उत्पन्न डर; जैसे—

जैन—अहा ! यह राजकीय विषय है कि नगर में रहनेवाले तपस्वियों का धन चोरी जाता है। (हाथ उठाता है।)

('अरे किसका कितना धन चोरी गया है ?'—यह कहते हुए नगर-रक्षकों का प्रवेश।)

अरूपांबर—अरे मारे गए। नगर-रक्षक आ गए। (ओठ फड़काने लगता है। मिथ्यातीर्थ गणिका को धक्का देकर समाधि लगाता है और निकच्छकीर्त्ति एक पैर पर खड़ा होकर उँगली गिनता है।)

(७) अनृत—झूठी स्तुति करना। कोई कोई अपने मत की स्तुति को अनृत कहते हैं; जैसे कर्पूरमंजरी में—

रंडाचंडा, दीक्षिता धर्मदारा, पीना खाना मद्य औ मांस का है।
भिक्षा वृत्ती चाम का है बिछौना, किसको भाता कौल का धर्म है ना॥

(८) विभ्रांति—वस्तु-साम्य से उत्पन्न मोह को विभ्रांति कहते हैं; जैसे—

(एक बौद्ध भिक्षुक को सुंदरी को देखकर किसी नगरी का भ्रम होता है।)

दूसरा—दीह नैनवाली है, पुरी है यह नाहिं मूढ़!
तोरण नहीं हैं, ये भौंह सान ताने हैं।]
दर्पण नहीं हैं, ये कपोल सुंदरी के हैं,
नहीं ये कलश, कुच पीन सरसाने हैं॥

(९) गद्गदवाक्—झूठे रोने से मिले हुए कथन को गद्गदवाक् कहते हैं।

गुह्यग्राही—(स्वगत) (दो बहनों को परस्पर मिलकर रोने पर)
आँसू बिन गद्गद कहति, छोड़ति दीरघ साँस।
इनकौ झूँठौ रोवनौ, सुरति अंत कौ रास॥

यहाँ गद्गदवाक् स्पष्ट ही है।

(१०) प्रलाप—अयोग्य का योग्यता से अनुमोदन करना। जैसे—

राजा—(उदारता के साथ) अरे विडालाक्ष! हमारे नगर में जो पति-हीना स्त्री हो तथा जो स्त्री-हीन पुरुष हो वह इच्छानुसार व्यवहार करें, यह घोषणा कर दो।

विडालाक्ष—जो आज्ञा।

गुह्यग्राही—हे महाराज! यह घोषणा आपने नष्टाश्व-भग्नशकट-न्याय से की है तथा मनु आदि जो सैकड़ों राजा हुए हैं उन्होंने भी पृथ्वी का पालन करते हुए ऐसे आश्चर्य और सौख्य को देनेवाला मार्ग नहीं निकाला।

ऊपर हम देख चुके हैं कि प्राचीनों ने भारती वृत्ति का संबंध केवल नटों से माना है तथा अन्य पात्रों के रंगमंच पर आने के पहले ही उसका प्रयोग होना बतलाया है। धनंजय ने अपने दश-रूपक में इन १३ वीथ्यंगों का उल्लेख करके स्पष्ट लिख भी दिया है—

एषामन्यतमेनार्थं पात्रं चाक्षिप्य सूत्रभृत्।
प्रस्तावनांते निर्गच्छेत्ततो वस्तु प्रपंचयेत्॥

अर्थात् इन वीथ्यंगों के द्वारा अर्थ और पात्र का प्रस्ताव करके प्रस्तावना के अंत में सूत्रधार चला जाय और तब वस्तु का प्रपंचन आरंभ हो। किंतु वीथ्यंगों और प्रहसन के अंगों का जो विवरण ऊपर दिया गया है उससे स्पष्ट है कि आगे चलकर भारती वृत्ति का नाटक के सभी अंशों में प्रयोग होने लगा। इस विवरण से यह भी स्पष्ट है कि ये सब ऐसे प्रयोग हैं, जिनसे प्राय: हास्य-रस का उद्रेक होता है और जो भारती वृत्ति के अनुरूप, सुननेवालों के हृदयों को चमत्कृत कर उन्हें आनंद में निमग्न कर देते हैं। हमारे विचार में आरंभ में वीथी और प्रहसन प्रस्तावना के ऐसे अंशों को कहते थे जिनमें हँसी या आमोदजनक चमत्कारपूर्ण उक्तियों की अधिकता रहती थी और जो सामाजिकों के चित्त को प्रसन्न कर अभिनय देखने के लिये उनकी रुचि को उत्कंठित करते थे। आगे चल-कर नाटक के आरंभ में ही नहीं उसके और अंशों में भी सामा-जिकों की रुचि को आकृष्ट करने की आवश्यकता का अनुभव हुआ होगा जिससे और अंशों में भी उसका प्रयोग होने लगा। यही धनंजय के भारती वृत्ति के संबंध में 'नटाश्रय:' का, विश्वनाथ के 'नराश्रय:' में बदलने का इतिहास है, जिसका उल्लेख पिछले अध्याय में हो चुका है।

यहाँ पर यह भी प्रश्न उठ सकता है कि भारती वृत्ति के वीथी और प्रहसन भेदों का इन्हीं नाम के रूपकों से कुछ संबंध है या नहीं। हमारे मत में वीथी और प्रहसन रूपक वीथी और प्रहसन वृत्ति-भेदों के ही विकसित रूप हैं। जैसे ये प्रस्तावना से नाटक के सर्वांग में संक्रमित हुए उसी प्रकार इन्होंने मनुष्य की आमोद-विनोदी प्रकृति से लाभ उठाकर रूपक-जगत् में अपनी स्वतंत्र सत्ता स्थापित कर दी। परंतु पहले ये प्रस्तावना के अंग-मात्र थे, इसमें संदेह का स्थान नहीं।

इस प्रकार प्रस्तावना द्वारा मुख्य नाटक का आरंभ होना चाहिए। मुख्य नाटक में सबसे आवश्यक बात अंतिम फल की प्राप्ति है। इसके स्थिर करने में नाटककार को बड़े सोच-विचार से काम लेना चाहिए। जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, नाटक आमोद-प्रमोद और मनबहलाव के उपादान हैं। इनसे ये सब बातें तो प्राप्त होती ही हैं और होनी भी चाहिएँ; पर साथ ही ये उच्च, उपकारी तथा उपदेशमय आदर्श का चित्र भी उपस्थित करते हैं। जीवन की व्याख्या इनके द्वारा अवश्य होती है। पर जीवन कैसा होता है यही इनका उद्देश्य नहीं होना चाहिए, वरन् इन्हें यह भी दिखलाना चाहिए कि जीवन कैसा होना चाहिए और उत्तम से उत्तम कैसा हो सकता है। इसी लिये कहा गया है कि नाटक के द्वारा अर्थ, धर्म और काम की प्राप्ति होती है। फल का निश्चय हो जाने पर नाटककार को अवस्थाओं, अर्थ-प्रकृतियों तथा संधियों के अनुसार विचारपूर्वक उनकी रचना करनी चाहिए।

रूपककार को चाहिए कि प्रस्तावना के उपरांत कार्य-व्यापार पर ध्यान देकर आरंभ में विष्कंभक का प्रयोग करे; अर्थात् वस्तु का जो विशेष भाग अपेक्षित तो हो पर साथ ही नीरस भी हो, उसे छोड़कर शेष अंश का नाट्य दिखाना चाहिए, और उस अपेक्षित अंश को विष्कंभक में ले जाना चाहिए। परंतु जहाँ सरस वस्तु का आरंभ से ही प्रयोग हो सकता हो वहाँ आमुख में की गई सूचना का ही आश्रय लेकर कार्य आरंभ करना चाहिए।

रूपक के प्रधान खंड को अंक कहते हैं। अंक में नायक के कृत्यों का प्रत्यक्ष वर्णन रहता है। अतएव उसे रस और भाव-पूर्ण होना चाहिए। प्रत्येक अंक में प्रधानता एक ही रस को मिलनी चाहिए और वह भी या तो शृंगार को या वीर को। और रसों को गौण स्थान मिलना चाहिए। वे प्रधान रस के सहायक-

मात्र होकर आ सकते हैं। अद्भुत रस अंक के अंत में आना चाहिए। अंकों को रसपूर्ण तो होना चाहिए परंतु रस का इतना आधिक्य न होना चाहिए कि कथा का व्यापार असंबद्ध सा लगने लगे। वस्तु का सूत्र बराबर चलता रहना चाहिए।

किसी भी कारण से यदि कथा-प्रवाह से ध्यान हट जाय तो कुतूहल-वृत्ति शांत हो जाती है और अभिनय से रुचि हट जाती है। इसलिये प्रत्येक अंक की कथा को स्वत: पूर्ण नहीं होना चाहिए। अर्थात् अंकों में अवांतर कार्य तो पूरा हो जाना चाहिए किंतु बिंदु लगा रहना चाहिए; अर्थात् मुख्य कथा की समाप्ति नहीं होनी चाहिए। आगे क्या होता है, मन में यह उत्सुकता बनी रहनी चाहिए। एक अंक में एक ही दिन की कथा होनी चाहिए और नायक के अतिरिक्त तीन ही चार पात्र और होने चाहिएँ। तात्पर्य यह कि जो पात्र वस्तु-व्यापार को बढ़ाने में नितांत आवश्यक हों वे ही आने चाहिएँ; उनसे अधिक नहीं। एक के अनंतर दूसरे अंक की रचना, अवस्था, अर्थ-प्रकृति, संधि, उसके अंग तथा अर्थोपक्षेपकों को ध्यान में रखकर करनी चाहिए।

कुछ शास्त्रकारों ने अंक के मध्य में आनेवाले अंक को गर्भांक* कहा है और लिखा है कि इसका प्रयोग रस, वस्तु और नायक का उत्कर्ष बढ़ाने के लिये होना चाहिए। इसमें रंगद्वार और आमुख आदि अंग होते हैं तथा बीज और फल का स्पष्ट आभास होता है। यह देखने में आता है कि किसी नाटक के अंतर्गत जो दूसरा नाटक होता है वह गर्भांक में दिखाया जाता है; जैसे, प्रियदर्शिका के

---

* भारतेंदु हरिश्चंद्र जी ने अपने नाटकों में इस शब्द का दुरुपयोग किया है। बँगला नाटकों के अनुकरण पर उन्होंने कहीं कहीं इसका दृश्य के अर्थ में प्रयोग किया है।

तीसरे अंक में वासवदत्ता का अपनी सखियों द्वारा वत्सराज से अपने पूर्व प्रेम-कृत्यों का नाट्य कराना; अथवा उत्तर-रामचरित में वाल्मीकि ऋषि का राम लक्ष्मण के सम्मुख सीता के दूसरे वनवास की कथा अप्सराओं द्वारा दिखाना; अथवा बालरामायण में सीता-स्वयंवर का प्रदर्शन।

सातवाँ अध्याय

रूपक और उपरूपक

(रूपक)

दूसरे अध्याय में रूपक के दस भेद बताए जा चुके हैं। उन सबमें प्रधान नाटक है। नाट्य-शास्त्र-संबंधी सब लक्षण नाटक में पाए जाते हैं और उसमें सब रसों का समावेश भी हो सकता है, यद्यपि प्रधानता शृंगार अथवा वीर रस की ही होती है। इसी लिये नाट्याचार्यों ने उसे नाट्य-प्रकृति कहा है। उसे सब प्रकार के रूपकों का प्रतिनिधि समझना चाहिए। नाटक की इसी सर्वग्राहिणी प्रकृति के कारण हिंदी में 'नाटक' शब्द 'रूपक' का स्थानापन्न हो गया है। साधारण बोल-चाल में नाटक शब्द से दृश्य काव्य के सभी भेदों का बोध हो जाता है। यह एक शास्त्रीय शब्द का अनुचित प्रयोग तो है, पर चल पड़ा है। वास्तव में अब नाटक एक ही अर्थ का बोधक नहीं रहा, बल्कि दो भिन्न अर्थ देने लगा है—नाटक = रूपक, और नाटक = रूपक-भेद। शास्त्रीय दृष्टि से न लिखे हुए ग्रंथों में इस भेद को भली भाँति समझ लेना चाहिए।

नाटक

नाटक की कथा ख्यात अर्थात् इतिहास-प्रसिद्ध होती है। जो कथा केवल कवि-कल्पित हो, इतिहास-प्रसिद्ध नहीं, उसके आधार पर नाटक नहीं बनाना चाहिए। आधिकारिक वस्तु का नायक अभिगम्य गुणों से युक्त (सत्यवादिता असंवादि आदि जिनके विषय में अन्य मत न हो सके उनसे युक्त), धीर, गंभीर, उदात्त, प्रतापी,

कीर्त्ति का अभिलाषी, महा उत्साहवाला, वेदों का रक्षक (त्रयी-त्राता), राजा अथवा राजर्षि या कोई दिव्य या दिव्यादिव्य पुरुष हो। नायक के गुण अथवा नाटकीय रस के विरोधी वृत्तांत को नाटक में स्थान नहीं मिलना चाहिए। प्रधान कार्य की सहायता में चार या पाँच व्यक्तियों का हाथ हो। नाटकेतर व्यक्ति प्रासंगिक कथानकों के नायक हो सकते हैं। जैसा कि कहा जा चुका है, नाटक में शृंगार अथवा वीर-रस की प्रधानता होती है, अन्य रस प्रधान रस के अंग होकर आते हैं और उसके परिपाक में सहायता पहुँचाते हैं।

नाटक में ५ से लेकर दस तक अंक हो सकते हैं। पाँच से अधिक अंकवाले नाटक को महानाटक कहते हैं। आचार्यों का कहना है कि नाटक की रचना गौ की पूँछ के अग्रभाग के समान होनी चाहिए। गौ की पूँछ के अग्रभाग का कोई तो यह अर्थ लेते हैं कि अंक उत्तरोत्तर छोटे होने चाहिएँ। कोई यह कहते हैं जैसे गौ की पूँछ के कुछ बाल छोटे और कुछ बड़े होते हैं, उसी प्रकार कुछ कार्य मुख-संधि में, कुछ प्रतिमुख-संधि में और कुछ आगे चलकर समाप्त हो जाने चाहिएँ। पंडित शालग्राम शास्त्री इसका यह अर्थ करते हैं कि जैसे गौ की पूँछ के अग्रभाग में दो ही एक बाल सबसे बड़े दीखते हैं उसी प्रकार नाटक का आरंभ एकाध व्यापक बात से होना चाहिए, और जैसे गौ की पूँछ के बालों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़कर एक स्थान पर समन्वित हो जाती है उसी प्रकार नाटक में क्रम से वृद्धि पाती हुई सब कथाओं का उपसंहार में समन्वय हो जाना चाहिए।

नाटक में यथास्थान पाँचों संधियों और अर्थ-प्रकृतियों का प्रयोग होना चाहिए। उसकी निर्वहण-संधि अत्यंत अद्भुत होनी चाहिए।

रूपक का दूसरा भेद प्रकरण है। प्रकरण का कथानक लौकिक और कवि-कल्पित होता है। उसका नायक धीर-शांत होता है अर्थात् वह मंत्री, ब्राह्मण या वैश्य हो सकता है। धर्म, अर्थ और काम की प्राप्ति के लिये वह तत्पर रहता है और कई विघ्न-बाधाओं का सामना करते हुए अपने अभीष्ट की प्राप्ति करता है। प्रकरण में नायिका कुलकन्या या वेश्या होती है, और कहीं दोनों भी होती हैं। इस दृष्टि से प्रकरण के तीन भेद माने गए हैं—(१) जिसमें नायिका कुल-कन्या हो वह शुद्ध, (२) जिसमें वेश्या हो वह विकृत, और (३) जिसमें दोनों हों वह संकीर्ण। 'तरंगदत्त' और 'मालती-माधव' शुद्ध प्रकरण हैं। उनमें नायिका कुलकन्या है। 'पुष्पदूतिका' विकृत है; उसमें नायिका 'वेश्या' है। 'मृच्छकटिक' संकीर्ण (मिश्रित) है, उसमें नायिका कुलकन्या और वेश्या दोनों हैं। कुलकन्या सदा घर में रहती है और वेश्या बाहर; और जिस प्रक-रण में दोनों हों वहाँ उनका सम्मिलन नहीं दिखाना चाहिए। संकीर्ण प्रकरण धूर्त्त, जुआरी, विट, चेटादि पात्रों से भरा रहना चाहिए। रस, संधि, प्रवेशक आदि बातों में प्रकरण नाटक के ही समान होता है।

प्रकरण

भाण में एक अंक और एक ही पात्र होता है। यह पात्र कोई बुद्धिमान् विट होता है जो अपने तथा दूसरों के धूर्त्ततापूर्ण कृत्यों को वार्त्तालाप के रूप में प्रकाशित करता है। वार्त्तालाप किसी कल्पित व्यक्ति के साथ होता है। रंगमंच पर आकर नायक आकाश की ओर देखता हुआ सुनने का नाट्य करके कल्पित पुरुष की उक्तियों को स्वयं दुहराता है और उनका उत्तर देता है। इस प्रकार की उक्ति-प्रत्युक्ति को आकाश-भाषित कहते हैं। इसमें वास्तव में मनुष्य अपने

भाण

ही आप दो मनुष्यों का काम करता है, अर्थात् स्वयं प्रश्न करता है और स्वयं ही उसका उत्तर देता है, तथा शौर्य और सौंदर्य के वर्णन से वीर एवं शृंगार-रस का आविर्भाव करता है। भाण में प्राय: भारती वृत्ति का आश्रय लिया जाता है। कहीं कहीं कैशिकी का भी प्रयोग होता है। इसमें अंगों के सहित मुख और निर्वहण दो संधियाँ होती हैं। लास्य के दस अंग भी इसमें व्यवहृत हो सकते हैं। इसका भी कथानक कल्पित होता है।

प्रहसन

भाण के समान ही प्रहसन भी होता है। पर इसमें आधिक्य हास्य-रस का होता है। वीथी के तेरह अंगों में से सभी इसमें आ सकते हैं। आरभटी वृत्ति तथा विष्कंभक और प्रवेशक का इसमें प्रयोग नहीं होता। प्रहसन तीन प्रकार का होता है—शुद्ध, विकृत और संकर।

शुद्ध प्रहसन में पाषंडी, संन्यासी, तपस्वी अथवा पुरोहित नायक की योजना होती है। इसमें चेट, चेटी, विट आदि नीच पात्र भी आते हैं। इसका बहुत कुछ प्रभाव वेश-भूषा और बोलने के ढंग से ही डाला जाता है। हास्यपूर्ण उक्तियों का इसमें बाहुल्य होता है।

विकृत प्रहसन में नपुंसक, कंचुकी और तपस्वी लोग कामुकों के वेश में तथा उन्हीं की सी बातें कहते दिखाए जाते हैं।

संकीर्ण प्रहसन में हँसी-दिल्लगी की बहुत विशेषता रहती है, नायक धूर्त्त होता है, प्रपंच (बनावटी प्रशंसा), छल (सुनने में हितकर पर वास्तव में अहितकर वचन), अधिबल (स्पर्धा-युक्त बातें), नालिका (अव्यक्तार्थ परिहास-वचन), असत्प्रलाप (बे सिर पैर की बातें), व्याहार (हँसी उड़ाना) और मृदव (गुण को अवगुण और अवगुण को गुण बनाकर कहना) इन वीथ्यंगों का व्यवहार अधिकता से किया जाता है।

डिम की कथा पुराण या इतिहास-प्रसिद्ध होती है। यह माया, इंद्रजाल, संग्राम, क्रोध, उन्मत्त लोगों की चेष्टाओं तथा सूर्य-चंद्र ग्रहण आदि बातों से पूर्ण रहता है। इसमें देवता, गंधर्व, यक्ष, राक्षस, भूत, प्रेत, पिशाच, महोरग आदि १६ उद्धत नायक होते हैं। कैशिकी को छोड़कर शेष तीनों वृत्तियों का इसमें प्रयोग होता है। इसमें हास्य और शृंगार-रस को छोड़कर शेष सब रसों का परिपाक होता है। इसमें चार अंक होते हैं और चार ही संधियाँ होती हैं, विमर्श-संधि नहीं होती। 'त्रिपुरदाह' डिम का उदाहरण है।

डिम

व्यायोग की भी कथा-वस्तु पुराण या इतिहास-प्रसिद्ध होती है, पर उसका नायक धीरोद्धत राजर्षि अथवा दिव्य पुरुष होता है। उसमें पात्रों की बहुलता होती है; पर सब पात्र नर होते हैं, स्त्री एक भी नहीं होती। इसमें युद्ध होता है, पर वह स्त्री के कारण नहीं होता। उदाहरण के लिये सहस्रार्जुन ने जमदग्नि ऋषि को मारा। इस कारण जमदग्नि के पुत्र परशुराम ने उसके साथ युद्ध किया और उसे मार डाला। इसमें एक ही अंक होता है, जिसमें एक ही दिन का वृत्तांत रहता है, कैशिकी वृत्ति का प्रयोग नहीं होता। हास्य और शृंगार की योजना नहीं होती। शेष सब बातों में व्यायोग डिम के ही समान होता है। उदाहरण—'सौगंधिका-हरण'।

व्यायोग

समवकार का कथानक इतिहास-प्रसिद्ध परंतु देवता तथा असुरों से संबंध रखनेवाला होता है। इसमें बारह देवासुर नायक होते हैं। प्रत्येक नायक का पृथक् पृथक् फल होता है। जैसे, समुद्र-मंथन में वासुदेव को लक्ष्मी, इंद्र को रत्न, देवताओं को अमृत इत्यादि अलग अलग फल की प्राप्ति हुई थी। इसमें वीर-रस प्रधान होता है, जिसकी पुष्टि अन्य सब रस

समवकार

करते हैं तथा सब वृत्तियों का प्रयोग होता है, किंतु कैशिकी का मंद (थोड़ा ही सा) प्रयोग होता है। इसमें तीन अंक होते हैं। पहले अंक में छः घड़ी का वृत्तांत तथा दो संधियाँ होती हैं; और दूसरे तथा तीसरे अंकों में क्रमशः दो और एक घड़ी का वृत्तांत और एक एक संधि होती है। विमर्श-संधि इसमें नहीं होती। शेष चारों संधियाँ होती हैं। नाटक के समान इसमें भी आमुख के द्वारा पात्रों का परिचय कराया जाता है। प्रत्येक अंक में एक एक प्रकार के कपट-शृंगार और विद्रव यथाक्रम होने चाहिएँ।

कपट तीन प्रकार का होता है—स्वाभाविक, दैविक और कृत्रिम। शृंगार के भी तीन प्रकार होते हैं—धर्म-शृंगार (जिसमें शास्त्र की बाधा न हो), अर्थ-शृंगार (धनलाभ के लिये), काम-शृंगार (कामोपलब्धि के लिये)। वैसे ही विद्रव (उपद्रव) के भी तीन प्रकार होते हैं—(१) चेतन-कृत (मनुष्य के द्वारा किया गया, जैसे शत्रु के नगर घेरने या आक्रमण करने के कारण भगदड़), (२) अचेतन-कृत (जल, वायु, अग्नि, बाढ़, आँधी, अग्नि लगने आदि के कारण उत्पन्न); और (३) चेतनाचेतन-कृत (हाथी आदि के छूटने के कारण उत्पन्न)। 'समुद्र-मंथन' समवकार है।

वीथी में एक ही अंक होता है और कोई उत्तम, मध्यम पुरुष उसका नायक होता है; पात्र एक ही दो होते हैं। भाण के समान आकाश-भाषित के द्वारा उक्ति-प्रत्युक्ति होती है, शृंगार रस का बाहुल्य रहता है और इसी कारण स्वभावतः कैशिकी वृत्ति की प्रधानता रहती है। इसमें मुख और निर्वहण-संधियाँ तथा पाँचों अर्थ-प्रकृतियाँ होती हैं और वीथ्यंगों का भी समावेश होता है।

वीथी

अंक या उत्सृष्टिकांक में एक ही अंक होता है, और साधारण पुरुष नायक होता है। इसका इतिवृत्त प्रख्यात होता है पर कवि

अपनी कल्पना से उसे विस्तार दे देता है। इसमें स्त्रियों का विलाप प्रचुरता से होता है, फलतः करुण-रस की प्रधानता होती है। जय तथा पराजय का इसमें वर्णन रहता है। युद्ध घात प्रतिघात या प्रहारमय नहीं होता, बल्कि वाणी का होता है। वैराग्योन्मेषिणी भाषा का उपयोग होता है और भाण के समान ही मुख तथा निर्वहण-संधियों और कहीं भारती तथा कहीं कैशिकी वृत्ति एवं लास्य के दसों अंग होते हैं।

अंक या उत्सृष्टिकांक

जिस रूपक में नायक हरिणी-सदृश अलभ्य नायिका की इच्छा करे वह ईहामृग कहलाता है। ईहामृग में कथानक मिश्रित होता है अर्थात् अंशतः प्रसिद्ध और अंशतः कवि-कल्पित। इसमें चार अंक और मुख, प्रतिमुख तथा निर्वहण ये तीन संधियाँ होती हैं। इसके नायक और प्रतिनायक प्रसिद्ध धीरोद्धत मनुष्य या देवता होते हैं। प्रतिनायक छिपकर पापाचरण करता है। वह किसी दिव्य नारी को चाहता है जो उसे नहीं चाहती और जिससे वह खुलकर अपना प्रेम नहीं जता सकता। नायक उसे हरण करने की सोचता है। युद्ध की पूरी संभावना होती है, पर वह किसी बहाने से टल जाता है। इतिहास में किसी महात्मा का वध प्रसिद्ध हो तो भी ईहामृग में उसे नहीं दिखाना चाहिए।

ईहामृग

(उपरूपक)

उपरूपक के अठारह भेद होते हैं, जिनमें से पहला भेद नाटिका है। उपरूपक होते हुए भी वह नाटक और प्रकरण का मिश्रण है। इसी लिये, संभवतः, धनंजय ने नाटक के बाद ही उसका वितरण दिया है। नाटिका की कथा कवि-कल्पित होती है। इसमें चार अंक होते हैं। अधिकांश पात्र स्त्रियाँ होती हैं। नायक धीर-ललित राजा होता है। रनिवास

नाटिका

से संबंध रखनेवाली या राजवंश की कोई गायन-प्रवीणा अनुरागवती कन्या नायिका होती है। महारानी के भय से नायक राजा अपने प्रेम में शंकित रहता है। महारानी राजवंश की प्रगल्भा नायिका होती है। वह पद पद पर मान करती है। नायक और नवीन नायिका का सम्मिलन उसी के अधीन रहता है। नाटिका में प्रधान रस शृंगार होता है। कैशिकी वृत्ति के भिन्न रूपों का क्रमश: चारों अंकों में पालन किया जाता है। विमर्श-संधि या तो होती ही नहीं या बहुत कम होती है, शेष चारों संधियाँ होती हैं। कुछ लोगों का मत है कि इसमें एक, दो या तीन अंक भी होते हैं। उदाहरण—रत्नावली, प्रियदर्शिका, विद्धशाल-भंजिका, चंद्रप्रभा।

त्रोटक

त्रोटक पाँच, सात, आठ या नौ अंकों का होता है। देवता तथा मनुष्य उसके पात्र होते हैं। प्रत्येक अंक में विदूषक का व्यापार रहता है। इसका प्रधान रस शृंगार होता है। शेष सब बातें नाटक के समान होती हैं। उदाहरण—विक्रमोर्वशीय (५ अंक) और स्तंभितरंभ (७ अंक)।

गोष्ठी

गोष्ठी में केवल एक अंक होता है, जिसमें नौ या दस मनुष्यों तथा पाँच या छ: स्त्रियों का व्यापार रहता है। शृंगार के तीन रूपों में से काम शृंगार की प्रधानता रहती है। कैशिकी वृत्ति का प्रयोग होता है, पर उदात्त वचनों की योजना नहीं होती। गर्भ और विमर्श-संधियाँ नहीं होतीं; शेष सब होती हैं। उदाहरण—रैवत-मदनिका।

सट्टक

सट्टक की संपूर्ण रचना प्राकृत में होती है। इसमें प्रवेशक और विष्कंभक नहीं होते और अद्भुत रस की प्रचुरता रहती है। इसमें एक विलक्षणता यह है कि इसके अंकों को जवनिका कहते हैं। अन्य सब बातें नाटिका के सदृश होती हैं। उदाहरण—कर्पूर-मंजरी।

नाट्यरासक में एक ही अंक होता है; नायक उदात्त और उप-नायक पीठमर्द होता है। यह हास्यरस-प्रधान होता है। शृंगार का भी इसमें समावेश रहता है। नायिका वासकसज्जा होती है। इसमें मुख और निर्वहण-संधियाँ तथा लास्य के दसों अंगों की योजना होती है। कोई कोई इसमें प्रतिमुख-संधि को छोड़कर शेष चारों संधियों का होना मानते हैं। परंतु यह दो संधियों का भी मिलता है। उदाहरण—विलासवती (चार संधियों का), नर्मवती (दो संधियों का)।

नाट्यरासक

प्रस्थानक में दो अंक और दस नायक होते हैं। उपनायक हीन पुरुष होता है और नायिका दासी। कैशिकी और भारती वृत्ति का इसमें प्रयोग होता है। सुरा-पान के संयोग से उद्दिष्ट अर्थ की सिद्धि होती है। उदाहरण—शृंगारतिलक।

प्रस्थानक

उल्लाप्य में एक अंक, दिव्य कथा, धीरोदात्त नायक, चार नायिकाएँ तथा शृंगार, हास्य और करुण-रस होते हैं। किसी किसी के मत से इसमें तीन अंक होते हैं। उदाहरण—देवी-महादेव।

उल्लाप्य

काव्य में केवल एक अंक होता है, आरभटी वृत्ति नहीं होती, हास्य व्यापक रस रहता है, गीतों का बाहुल्य रहता है, नायक और नायिका दोनों उदात्त होते हैं और मुख, प्रतिमुख तथा निर्वहण-संधियाँ होती हैं। उदाहरण—यादवोदय।

काव्य

रासक में भी एक ही अंक होता है, पात्र पाँच होते हैं, मुख और निर्वहण-संधियों का प्रयोग होता है। इसमें कैशिकी और भारती वृत्तियों की योजना होती है, तथा भिन्न प्रकार की प्राकृतों का विशेष प्रयोग होता

रासक

है। सूत्रधार इसमें नहीं होता। नायिका प्रसिद्ध और नायक मूर्ख होता है तथा उदात्त भाव उत्तरोत्तर प्रदर्शित किए जाते हैं। कोई कोई इसमें प्रतिमुख-संधि भी मानते हैं। उदाहरण—मेनकाहित।

प्रेंखण एक अंक का होता है। गर्भ और विमर्श-संधियाँ उसमें नहीं होतीं, नायक हीन पुरुष होता है। इसमें सूत्रधार नहीं होता और विष्कंभक तथा प्रवेशक भी नहीं होते। नांदी और प्ररोचना नेपथ्य से पढ़ी जाती है। युद्ध और संफेट तथा सब वृत्तियाँ होती हैं। उदाहरण—बालिवध।

प्रेंखण

संलापक में तीन या चार अंक होते हैं। नायक पाखंडी होता है। शृंगार और करुण रस नहीं होते और न भारती तथा कैशिकी वृत्तियाँ ही होती हैं। नगर का घेरा, संग्राम तथा भगदड़ (विद्रव) का वर्णन रहता है। उदाहरण—मायाकापालिक।

संलापक

श्रीगदित में एक अंक, प्रसिद्ध कथा तथा धीरोदात्त नायक होता है। गर्भ और विमर्श-संधियाँ इसमें नहीं होतीं, पर भारती वृत्ति का आधिक्य होता है। एक पाश्चात्य विद्वान् का मत है कि इसमें नायिका लक्ष्मी का रूप धारण करके आती है और कुछ गाना गाती या कुछ बोलती है। इसी से इसका श्रीगदित नाम पड़ा। उदाहरण—क्रीड़ारसातल।

श्रीगदित

शिल्पक में चार अंक और चारों वृत्तियाँ होती हैं, शांत और हास्य को छोड़कर और रस होते हैं, नायक ब्राह्मण होता है तथा उपनायक कोई हीन पुरुष। मरघट, मुरदे आदि का वर्णन इसमें रहता है। इसके नीचे लिखे २७ अंग होते हैं—

शिल्पक

१ आशंसा (आशा), २ तर्क, ३ संदेह, ४ ताप, ५ उद्वेग, ६ प्रसक्ति (आसक्ति), ७ प्रयत्न, ८ ग्रथन (गूँथना), ९ उत्कंठा,

१० अवहित्था (आकार-गोपन), ११ प्रतिपत्ति, १२ विलास, १३ आलस्य, १४ वमन, १५ प्रहर्ष (विशेष हर्ष), १६ अश्लील (लज्जा, जुगुप्सा तथा असंगल-सूचक बात, यह काव्यदोष माना गया है पर शिल्पक की प्रकृति ही ऐसी है कि उससे यह आ ही जाता है। श्मशान का वर्णन स्वयं ही घृणा (जुगुप्सा) उत्पन्न करनेवाला होगा), १७ मूढ़ता, १८ साधनानुगमन, १९ उच्छ्वास (आह भरना), २० विस्मय, २१ प्राप्ति, २२ लाभ, २३ विस्मृति, २४ संफेट (रोषपूर्ण कथन), २५ वैशारद्य (विशारदता, कौशल), २६ प्रबोधन (समझाना), और २७ चमत्कृति। उदाहरण—कनकावतीमाधव।

विलासिका

विलासिका में एक अंक होता है जिसमें दस लास्यांगों का विनिवेश तथा विदूषक, विट, पीठमर्द आदि का व्यापार होता है। गर्भ और विमर्श-संधियाँ इसमें नहीं होतीं। इसका नायक हीन गुणवाला होता है पर वेश-भूषा से अच्छी तरह सज्जित रहता है। वृत्तांत थोड़ा होना चाहिए। इसका कोई उदाहरण नहीं मिलता।

दुर्मल्लिका

दुर्मल्लिका में चार अंक होते हैं। पहले अंक में ६ घड़ी का व्यापार तथा विट की क्रीड़ा रहती है; दूसरे अंक में विदूषक का विलास रहता है जो दस घड़ी तक चलता है; तीसरे अंक में पीठमर्द का विलास-व्यापार रहता है जो १२ घड़ी तक चलता है; और चौथे अंक में नागरिक पुरुषों की क्रीड़ा रहती है जिसका विस्तार २० घड़ी का होता है। दुर्मल्लिका में कैशिकी और भारती वृत्तियाँ होती हैं, गर्भ-संधि नहीं होती। पुरुष-पात्र सब चतुर होते हैं, पर नायक छोटी जाति का होता है। उदाहरण—बिंदुमती।

जैसे नाटक के जोड़ का उपरूपक नाटिका है वैसे ही प्रकरण के जोड़ का उपरूपक प्रकरणिका होती है। इसमें नायक व्यापारी होता है। नायिका उसकी अपनी सजातीया होती है। शेष बातें प्रकरण के समान होती हैं।

प्रकरणिका

हल्लीश में एक ही अंक, सात आठ या दस स्त्रियाँ और उदात्त वचन बोलनेवाला एक पुरुष रहता है। इसमें कैशिकी वृत्ति तथा मुख और निर्वहण-संधियाँ होती हैं एवं गान, ताल, लय का अधिकता से प्रयोग होता है।

हल्लीश

उदाहरण—केलिरैवतक।

भाणिका में भी एक ही अंक होता है, नायक मंदमति तथा नायिका उदात्त और प्रगल्भा होती है। इसमें मुख और निर्वहण-संधियाँ एवं भारती और कैशिकी वृत्तियाँ होती हैं। यह भाण की जोड़ का उपरूपक है।

भाणिका

भाण में ये सात अंग होते हैं—(१) उपन्यास (प्रसंग प्रसंग पर कार्य का कीर्त्तन करना), (२) विन्यास (निर्वेद-सूचक वाक्य), (३) विबोध (समझाना या भ्रांति का नाश करना), (४) साध्वस (मिथ्यां कथन), (५) समर्पण (कोप से उपालंभ के वचन कहना), (६) निवृत्ति (दृष्टांत का कीर्त्तन करना), (७) संहार (कार्य की समाप्ति)। उदाहरण—कामदत्ता।

ऊपर रूपक और उपरूपक के प्रकारों में उन्हीं बातों का उल्लेख किया गया है जिनमें उनका नाटक से भेद है। शेष सब बातों में उन्हें नाटक के ही समान समझना चाहिए।

आठवाँ अध्याय

रसों का रहस्य

रस-सिद्धांत का सबसे प्राचीन उल्लेख भरत मुनि के नाट्य-शास्त्र में मिलता है। यद्यपि स्वयं नाट्य-शास्त्र में इस बात के प्रमाण विद्यमान हैं कि भरत के पूर्व भी काव्य के संबंध में रस की चर्चा होती थी, तथापि जहाँ तक पता चलता है उस समय तक यह शब्द सामान्यत: काव्यानंद के अर्थ में प्रयुक्त होता था, उसे अभी शास्त्रीय महत्त्व नहीं प्राप्त हुआ था। रस को सिद्धांत रूप में स्वीकार कर उसे शास्त्रीय रूप देना संभवत: भरत मुनि ही का काम था। राजशेखर ने नंदिकेश्वर को रस-सिद्धांत का प्रवर्तक माना है और यह संभवत: इसलिये कि उन्होंने कामशास्त्र पर ग्रंथ लिखे थे। रति-रहस्य, पंचसायक और वात्स्यायन के काम-सूत्रों में क्रमश: नंदिकेश्वर, नंदीश्वर और नंदी* नाम से इनके वाक्य उद्धृत किए गए हैं। शृंगार रस सब रसों में प्रधान माना जाता है। उसे रसराज की उपाधि दी गई है और शृंगार तथा कामशास्त्र का परस्पर संबंध होने के कारण पीछे के आचार्यों ने शृंगार रस की सीमा लाँघकर उसके नाम पर कामशास्त्र के क्षेत्र में अनधिकार प्रवेश कर लिया। इसी से ऐसा जान पड़ता है कि कामशास्त्र के आचार्य रस-सिद्धांत के आचार्य माने जाने लगे। रस पर नंदिकेश्वर के किसी ग्रंथ का उल्लेख नहीं मिलता। अतएव आज तक जो कुछ ज्ञात है उसके

---

* ये तीनों भिन्न भिन्न व्यक्तियों के नाम नहीं समझने चाहिएँ, संस्कृत में नाम का अनुवाद कर देने की भी प्रथा है और कभी कभी नाम का पूर्वार्द्ध ही व्यवहार में लाया जाता है।

आधार पर यह कहा जा सकता है कि रस-सिद्धांत के लिये काव्य-शास्त्र भी नाट्य-शास्त्र का ही आभारी है।

भरत मुनि रस-सिद्धांत के प्रवर्तक हों चाहे न हों, पर यह बात निर्विवाद है कि आगे आनेवाले आचार्यों ने रस के संबंध में उन्हीं का अनुसरण किया और निरंतर बहुत काल तक नाट्य-शास्त्र के ही संबंध में रस की चर्चा होती रही। जो कुछ भरत मुनि लिख गए थे उसका विरोध किसी साहित्याचार्य ने नहीं किया। हाँ, उसके आधार पर व्याख्या के रूप में नए नए मत अवश्य निकलने लग गए।

रस का अर्थ है आस्वाद्य—'आस्वाद्यत्वाद्रसः' जैसे भोज्य और पेय पदार्थों का स्वाद लिया जाता है वैसे ही काव्य-रस का भी स्वाद लिया जाता है। जिस काव्य से, चाहे वह दृश्य काव्य हो अथवा श्रव्य, यह आस्वाद न मिले वह सफल नहीं हो सकता। भरत मुनि के अनुसार तो कोई काव्यार्थ रसहीन होना ही नहीं चाहिए—

न रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते।

इसी से रस दृश्य काव्य का एक आवश्यक तत्त्व माना जाता है। दूसरे अध्याय में कहा जा चुका है कि रूपक रसों के आश्रित होते हैं। यही कारण है कि नाट्य-शास्त्र में रस को इतना महत्त्व दिया गया है।

भरत मुनि के अनुसार रसों के आधार भाव हैं। भाव मन के विकारों को कहते हैं। ये वाणी, अंग-रचना और अनुभूति के द्वारा

भाव

काव्यार्थों की भावना कराते हैं। इसी लिये इनको भाव कहते हैं—"वागंगसत्त्वोपेतान् काव्यार्थान् भावयंतीति भावाः"। गहराई की न्यूनाधिक मात्रा के अनुसार भाव दो प्रकार के होते हैं। जो छोटी छोटी तरंगों की भाँति उठकर थोड़े ही समय में विलीन हो जाते हैं वे संचारी भाव कहाते

हैं। इन्हीं को व्यभिचारी भाव भी कहते हैं। इनके विपरीत जो भाव रस का आस्वादन होने तक मन में ठहरे रहते और उसे निमग्न कर डालते हैं वे स्थायी भाव कहलाते हैं। जब तक स्थायी भाव मन में रहता है तब तक उसी का प्राधान्य रहता है और भाव, चाहे वे सजातीय हों या विजातीय, केवल उसके पोषक होकर आ सकते हैं; उससे बढ़ नहीं सकते। उन सबको उसी के रूप में ढल जाना पड़ता है। जिस प्रकार खारे समुद्र में गिर जाने से सब वस्तुएँ नमकीन बन जाती हैं उसी प्रकार स्थायी भाव के मेल में सब भाव उसी के रूप को ग्रहण कर लेते हैं। स्थायी भाव ही रस के लिये मूल आधार प्रस्तुत करते हैं, संचारी तो केवल स्थायी भाव को पुष्ट करने के उद्देश्य से थोड़े ही समय तक संचरण कर चले जाते हैं।

संचारी भाव

संचारी भाव तेंतीस कहे गए हैं—(१) निर्वेद, (२) ग्लानि, (३) शंका, (४) श्रम, (५) धृति, (६) जड़ता, (७) हर्ष, (८) दैन्य, (९) उग्रता, (१०) चिंता, (११) त्रास, (१२) असूया, (१३) अमर्ष, (१४) गर्व, (१५) स्मृति, (१६) मरण, (१७) मद, (१८) स्वप्न, (१९) निद्रा, (२०) विबोध, (२१) व्रीड़ा, (२२) अपस्मार, (२३) मोह, (२४) मति, (२५) अलसता, (२६) आवेग, (२७) तर्क, (२८) अवहित्था, (२९) व्याधि, (३०) उन्माद, (३१) विषाद, (३२) औत्सुक्य और (३३) चपलता।

निर्वेद

तत्त्वज्ञान, आपत्ति, ईर्ष्या आदि कारणों से मनुष्य का अपनी अवमानना करना निर्वेद कहलाता है। इसमें मनुष्य अपने शरीर और सभी लौकिक पदार्थों का तिरस्कार करने लगता है तथा चिंता, निःश्वास, उच्छ्वास, अश्रु, विवर्णता और दैन्य, ये लक्षण प्रकट होते हैं।

या लकुटी अरु कामरिया पर राज तिहूँ पुर को तजि डारौं।
आठहु सिद्धि नवो निधि को सुख नंद की गाय चराय बिसारौं॥

नैननि सों रसखानि जबै ब्रज के बन बाग तड़ाग निहारौं।
कोटिक वे कलधौत के धाम करील के कुंजन ऊपर वारौं॥

[रसखान]

रति, भूख, प्यास, परिश्रम, मनस्ताप आदि कारणों से जो अशक्ति उत्पन्न होती है उसे ग्लानि कहते हैं। इसमें मनुष्य को अपनी स्थिति भारी जान पड़ने लगती है और विवर्णता, कंप, अनुत्साह और शरीर तथा वचनों की क्षीणता, ये लक्षण प्रकट होते हैं।

ग्लानि

घहरि घहरि घन. सघन चहूँवा घेरि,
छहरि छहरि विष बूँद बरसावै नां।
द्विजदेव की सौं अब चूक मति दांव. अरे
पातकी पपीहा, तू पिया की धुनि गावै ना॥
फेरि ऐसो औसर न ऐहै तेरे हाथ, ए रे
मटकि मटकि मोर, शोर तू मचावै ना।
हौं तो बिन प्रान, प्रान चाहत तज्योई अब,
कत नभचंद, तू अकास चढ़ि धावै ना॥

[द्विजदेव]

रंग भरे रति मानत दंपति बीति गई रतिया छन ही छन।
प्रीतम प्रात उठे अलसात चितै चित चाहत धाइ गह्यो धन॥
गोरी के गात सबै अँगिरात जु बात कही न परी सु रही मन।
भौंहैं नचाय लचाय के लोचन चाय रही ललचाय लला तन॥

[देव]

दूसरों के द्वारा अथवा अपने ही दुर्व्यवहार से अपनी इष्ट-हानि का पूर्वाभास मिलना शंका कहाता है। यह भय का एक हलका रूप है। इसमें शरीर का काँपना और सूखना, चिंताकुल दृष्टि, विवर्णता और स्वर-भेद आदि लक्षण होते हैं।

शंका

दूसरों की क्रूरता से शंका का उदाहरण—

या डर हैं घर ही मैं रहैं कवि देव दुरो नहिं दूतनि को दुख।
काहू की बात कही न सुनी मन मोहिं बिसारि दयो सिगरो सुख॥
भीर में भूले भए सखि मैं जब तें जदुराई की ओर कियो रुख।
मोहि भटू तब तें निसि-द्यौस चितौतही जात चवाइन कौ मुख॥

[देव]

लगै न कहुँ व्रज गलिन मैं आवत जात कलंक।
निरखि चौथ को चांद यह सोचति सुमुखि सशंक॥

[पद्माकर

अपने दुर्व्यवहार से शंका; जैसे—

महा सिंह सों वीर मार्यो सुबाहू।
हन्यो ताड़का को हर्यो नाहिं काहू॥
जो मारीच को दूर ही सो हिलायो।
करै दुःख मो चित्त सो भूप-जायो॥

[महावीरचरित]

श्रम

यात्रा, रति आदि कारणों से जो थकावट हो, उसे श्रम कहते हैं। इसमें पसीना, अंगों में कंपन का होना, आदि लक्षण होते हैं।

जब मारग के श्रम व्यापन सों, सिथलाइ कैं आलस भोइ गई।
मिसिली मुरझाई मृनालनि सी, बल छीन पसीननु मोइ गई॥
कछु मेरे तबै परिरंभन सों सुठि अंग हराहरि खोइ गई।
सुख मानि प्रिया पहँ वाही घरी हियरा लगि मेरे तू सोइ गई॥

[उत्तर-रामचरित]

धृति

ज्ञान अथवा शक्ति आदि की प्राप्ति से जो अप्रतिहत आनंद का देनेवाला संतोष उत्पन्न होता है उसे धृति कहते हैं।

रावरौ रूप रह्यौ भरि नैननि बैननि के रस सों श्रुति साने।।
गात में देखत गात तुम्हारेई बात तुम्हारी ये बात बखाने॥
ऊधौ हहा हरि सौं कहियौ तुम है। न यहाँ यह हैं। नहिं माने।
या तन ते बिछुरे तो कहा मन तें अनतै जु बसौ तब जाने॥

[देव]

या जग जीवन को है यहै फल जो छल छाँड़ि भजै रघुराई।
सोधि कै संत महंतन हूँ पदमाकर बात यहै ठहराई॥
ह्वै रहै होनी प्रयास बिना अनहोनी न ह्वै सकै कोटि उपाई।
जो बिधि भाल मैं लीक लिखी सो बढ़ाई बढ़ै न घटै न घटाई॥

[पद्माकर]

जड़ता

किसी इष्ट अथवा अनिष्ट बात को देखने अथवा सुनने से कुछ क्षणों के लिये कार्य करने की योग्यता के खो जाने को जड़ता कहते हैं। अचंचल भाव और निर्निमेष दृष्टि इसके लक्षण हैं।

हलैं दुहूँ न चलैं दुहूँ, दुहुन बिसरिगो गेह।
इकटक दुहुन दुहूँ लखैं, अटकि अटपटे नेह॥

[पद्माकर]

आज बरसाने की नवेली अलबेली वधू,
मोहन बिलोकिबे को लाज काज लै रही।
छज्जा छज्जा झांकती झरोखनि झरोखनि है,
चित्रमारी चित्रसारी चंद्र सम च्वै रही॥
कहै पदमाकर त्यों निकस्यो गोविंद ताहि,
जहाँ तहाँ इकटक ताकि घरी द्वै रही।
छज्जावारी छकी सो उझकी सी झरोखावारी,
चित्र कैसी लिखी चित्रसारीवारी ह्वै रही॥

[पद्माकर]

किसी कार्य के सिद्ध होने से अथवा उत्सवादि से मन को जो प्रसन्नता होती है उसे हर्ष कहते हैं। आँसू

हर्ष

बहना, पसीना निकलना और गद्गद वचन इसके लक्षण हैं।

तुमहि बिलोकि बिलोकिए, हुलसि रह्यो यों गात।
आंगी मैं न समात उर, उर मैं मुद न समात॥

[पद्माकर]

विरह अथवा आपत्ति के कारण आई हुई निस्तेजता को दैन्य कहते हैं। इस अवस्था में कहे हुए शब्दों में

दैन्य

विनय और दीनता का भाव रहता है।

रैन दिन नैन दोऊ मास ऋतु पावस के
बरसत बड़े बड़े बूँदन सों झरिए।
मैन सर जोर मोर पवन झकोरन सों,
आई है उमँगि छिति छाती नीर भरिए॥
टूटी नेह-नाव छूटौ स्याम सौं सनेह गुनु
तातें कवि देव कहैं कैसे धीर धरिए।
विरह नदी अपार बूड़त ही मझधार
ऊधौ अब एक बार खेइ पार करिए॥

[देव]

किसी दुष्ट के दुष्कर्मों, दुर्वचनों, अथवा क्रूरता से स्वभाव के प्रचंड हो जाने को उग्रता कहते हैं। इसमें पसीना आता है, तीक्ष्ण वचन कहे जाते हैं और आदमी मारने पर भी उतारू हो जाता है,

उग्रता

सिर काँपता है और तर्जन ताड़न भी होता है। रामचंद्रिका में परशुराम के ये वचन उग्रता के उदाहरण हैं।

बर बाण शिखीन अशेष समुद्रहिं सोखि सखा सुख ही तरिहैं।
पुनि लंकहि औटि कलंकित कै फिरि पंक कलंकहि की भरिहैं॥

भल भूँजि कै राख सुखै करिकै दुख दीरघ देवन को हरिहैं।
सितकंठ के कंठन को कठुला दशकंठ के कंठन को करिहैं॥
[केशव]

किसी इष्ट पदार्थ के न मिलने पर उसी का ध्यान बना रहना चिंता कहलाता है। इसमें साँस जोर से चलने लगती है, शरीर का ताप बढ़ जाता है और ऐसा भान होता है मानो उस पदार्थ के विना जीवन शून्य हो गया है।

चिंता

जानति नाहिं हरै हरि कौन के ऐसी धौं कौन बधू मन भावै।
मोहीं सों रूठिकै बैठि रहे किधौं कोई कहूँ कछु सोध न पावै॥
वैसिय भांति भटू कबहूँ अब क्योंहूँ मिलै कहूँ कोई मिलावै।
आँसुनि मोचति सोचति यों सिगरो दिन कामिनि काग उड़ावै॥
[देव]

बादल के गर्जन अथवा ऐसी ही और भयप्रद घटनाओं से मन में जो क्षोभ उत्पन्न होता है, उसे त्रास कहते हैं। इसका प्रधान लक्षण कंप है।

त्रास

बाजि गजराज सिवराज सैन साजत ही
दिल्ली दिलगीर दसा दीरघ दुखन की।
तनियाँ न तिलक सुथनियाँ पगनियाँ न
घामैं घुमरात छोड़ि सेजियाँ सुखन की॥
भूषण भनत पति-बाँह बहियाँ न तेऊ
छहियाँ छबीली ताकि रहियाँ रुखन की।
बालियाँ बिथुरि जिमि आलियाँ नलिन पर
लालियाँ मलिन मुगलानियाँ मुखन की॥
[भूषण]

उतरि पलँग ते न दियो है धरा पै पग,
तेऊ सगबग निसि दिन चली जाती हैं।

अति अकुलाती मुरझाती ना छिपाती गात,
बात न सोहाती बोलै अति अनखाती हैं ॥
भूषण भनत सिंह साहि के सपूत सिवा,
तेरी धाक सुने अरि-नारी थिलखाती हैं ।
कोऊ करै घाती कोऊ रोती पीट छाती,
घरै तीनि बेर खाती ते वै तीन बेर खाती हैं ॥

[भूषण]

दूसरे की उन्नति को न सह सकना असूया है। इसकी उत्पत्ति तीन कारणों से हो सकती है—गर्व से, दुष्ट स्वभाव से अथवा क्रोध से। इसके लक्षण हैं दोष निकालना, अवज्ञा, क्रोध, भ्रुकुटी चढ़ाना तथा क्रोध-सूचक अंग-रचनाएँ।

असूया

जैसे को तैसो मिलै तब ही जुरत सनेह।
ज्यौं त्रिभंग तन स्याम को कुटिल कूबरी देह ॥

[पद्माकर]

देह दुहलिया की बढ़ै ज्यौं ज्यौं जोबन-जोति।
त्यौं त्यौं सखि सौतैं सबै बढ़त मलिन दुति होति ॥

[बिहारी]

किसी के बुरे वचनों से अथवा किसी के द्वारा किए गए अपमान के कारण प्रतीकार में उस व्यक्ति के अहंकार को नष्ट करने की उत्कट अभिलाषा को अमर्ष कहते हैं। इसके और उग्रता के एक से ही चिह्न हैं। अमर्ष के कारण भी पसीना आता है, सिर काँपता है, मनुष्य भर्त्सना के वचन कहता है और मार-पीट भी करने को उतारू होता है। उदाहरण—

अमर्ष

भौंर ज्यों भँवत भूत वासुकी गणेशयुत
मानो मकरंद-बुंद माल गंगा-जल की।

उड़त पराग पट नाल सी विशाल बाहु
कहा कहौं केशोदास शोभा पल पल की ॥
आयुध सघन सर्वमंगला समेत शर्व
पर्वत उठाइ गति कीन्हीं है कमल की।
जानत सकल लोक लोकपाल दिकपाल
जानत न बाण बात मेरे बाहुबल की ॥

[केशव]

सुनतहिं लषण कुटिल भई भौंहैं। रदपुट फरकत नयन रिसौंहैं ॥
जो राउर अनुसासन पाऊँ। कंदुक इव ब्रह्मांड उठाऊँ ॥

[तुलसीदास]

गर्व

अपने कुल, सौंदर्य, बल, ऐश्वर्य आदि के मद को गर्व कहते हैं। गर्व के कारण मनुष्य दूसरों को उपेक्षा और घृणा की दृष्टि से देखता है। गर्वित व्यक्ति का एक यह भी लक्षण है कि वह अपने शरीर, वेश-भूषा आदि को बड़ी शान से देखता रहता है। उदाहरण—

गुल पर गालिब कमल है, कमलन पै सुगुलाब।
गालिब गहब गुलाब पै, मो तन सुरत सुभाव ॥

[पद्माकर]

कुंभकरन से बंधु मम, सुत प्रसिद्ध सक्रारि।
मोर पराक्रम सुनेसि नहिं, जितेउँ चराचर झारि ॥

[तुलसीदास]

स्मृति

पहले की देखी हुई वस्तु के समान किसी अन्य वस्तु को देखकर धारणा-शक्ति के द्वारा मन में उस पहले देखी हुई वस्तु की जो रूप-रेखा खिँच जाती है वही स्मृति कहलाती है। किसी बात या वस्तु की स्मृति होने पर भौंहें सिकुड़ जाती हैं तथा अन्य ऐसे ही लक्षण दृष्टिगत होते हैं।

सघन कुंज छाया सुखद सीतल मंद समीर।
मन ह्वै जात अजौं वहै वा जमुना के तीर॥

[बिहारी]

जा थल कीन्हें बिहार अनेकन ता थल काँकरि बैठि चुन्यौ करैं।
जा रसना सों करी बहु बातन ता रसना सों चरित्र गुन्यौ करैं॥
आलम जौन से कुंजन में करी केलि तहाँ अब सीस धुन्यौ करैं।
नैनन में जो सदा रहते तिनकी अब कान कहानी सुन्यौ करैं॥

[आलम]

धनंजय ने मरण की व्याख्या करना व्यर्थ समझा। उनके अनुसार वह ऐसी बात है जिसे सब जानते हैं। इससे ज्ञात होता है कि उन्होंने मरण का अभिप्राय प्राणों का छूट जाना माना है। परंतु यदि ऐसा मानें तो मरण भाव नहीं हो सकता। भाव तो सजीव व्यक्ति में ही उदय हो सकते हैं, निर्जीव प्राणियों में नहीं। अतएव मरण से यहाँ मृत्यु से पूर्व की उस अवस्था को समझना चाहिए, जिसमें प्राणों का संयोग रहने पर भी शरीर मृत अवस्था के समान निश्चेष्ट रहता है और जिससे व्यक्ति पुनरुज्जीवित भी हो सकता है। इस अवस्था को मूर्च्छा भी कह सकते हैं। पंडितराज जगन्नाथ का भी यही मत है।

मरण

हने राम दससीस के दसौ सीस भुज बीस।
लै जटायु की नजरि जनु, उड़े गीध नव तीस॥

[पद्माकर]

राधिके बाढ़ी वियोग की बाधा सुदेव अबोल अडोल डरी रही।
लोगन की वृषभान के भौन में भोर ते भारिये भीर भरी रही॥
वाके निदान कै प्रान रहे कढ़ि औषधि मूरि करोरि करी रही।
चेति मरू करिके चितई जब चारि घरी लौं मरी सी धरी रही॥

[देव]

मदिरा आदि मादक पदार्थों के पान से उत्पन्न होनेवाली अत्यंत प्रसन्नता को मद कहते हैं। मद के कारण अंग, वाणी और गति शिथिल पड़ जाती हैं। मद्यपों में श्रेष्ठ लोग नशा चढ़ने पर सो जाते हैं, मध्यम श्रेणी के हँसी-मजाक करते हैं और अधम श्रेणी के रोने लगते हैं।

मद

पूस निसा में सुवारुणि लै बनि बैठे दुहूँ मद के मतवाले।
त्यों पदमाकर झूमैं झुकैं घन घूमि रचैं रस रंग रसाले॥
शीत को जीति अभीत भए सु गनै न सखी कछु शाल दुशाले।
छाक छका छबि ही को पिए मद नैननि के किए प्रेम पिथाले॥
[पद्माकर]

धन-मद यौवन-मद महा, प्रभुता को मद पाय।
तापर मद को मद जिन्हैं, को तेहि सकै सिखाय॥
[तुलसी]

निद्रा में स्वप्न अवस्था का उदय होता है। इसका प्रधान लक्षण श्वासोच्छ्वास है।

स्वप्न

सपने हू सोवन न दई निर्दई दई,
बिलपत रहिहैं जैसे जल बिनु झखियाँ।
कुंदन, सँदेसो आयो लाल मधुसूदन को,
सबै मिलि दौरी लेन आँगन बिलखियाँ॥
बूझै समाचार ना मुखागरं सँदेसो कछू,
कागद लै कोरो हाथ दीनी लैकै सखियाँ।
छतियाँ सो पतियाँ लगाय बैठी बाँचिबे को,
जौलों खोलौ खाम तौलों खुल गईं अखियाँ॥
[कुंदन]

क्यों करि झूठी मानिए, सखि सपने की बात।
जु हरि रह्यो सोवत हिए, सो न पाइयत प्रात॥
[पद्माकर]

चिंता, आलस्य, थकावट आदि से मन की क्रियाओं के रुक जाने को निद्रा कहते हैं। इसमें जँभाई आती है, हाथ पाँव तानने को जी करता है, आँखें बंद रहती हैं और रह रहकर नींद उचट जाती है।

निद्रा

चहचही चुभकैं चुभी हैं चौक चुंबन की,
लहलही लांबी लटैं लपटी सुलंक पर।
कहै पदमाकर मजानि मरगजी मंजु,
मसकी सु आँगी है उरोजन के अंक पर॥
सोई सरसार यों सुगंधन समोई स्वेद,
सीतल सलोने लोने बदन मयंक पर।
किन्नरी नरी है कै छरी है छविदार परी,
टूटि सो परी है कै परी है परयंक पर॥

[पद्माकर]

नींद के टूट जाने को विबोध कहते हैं। विबोध में जंभाई आती है और आदमी अपनी आँखें मलता है।

विबोध

अनुरागी लागी हिए, जागी बड़े प्रभात।
ललित नैन बेनी छुटी, छाती पर छहरात॥

[पद्माकर]

अधखुली कंचुकी उरोज अध आधे खुले,
अधखुले वेश नख-रेखन के झलकैं।
कहै पदमाकर नवीन अध नीवी खुली,
अधखुले छहरि छरा के छोर छलकैं॥
भोर जागी प्यारी अध ऊरध इतै की ओर,
भापी झिखि झिरकि उचारि अध पलकैं।
आँखैं अधखुली अधखुली खिरकी है खुली,
अधखुले आनन पै अधखुली अलकैं॥

[पद्माकर]

दुराचरण, कामवासना, प्रशंसा, गुरुजनों की मान-मर्यादा तथा अन्य कारणों से धृष्टता के अभाव को व्रीड़ा कहते हैं। जिस व्यक्ति को व्रीड़ा होती है वह सिकुड़ता सा रहता है, अपने शरीर को छिपाने का प्रयत्न करता है, उसका रंग फीका पड़ जाता है और सिर झुक जाता है।

व्रीड़ा

गुरुजन-लाज समाज बड़, देखि सीय सकुचान।
लगी बिलोकन सखिन तन, रघुबीरहिं उर आन॥

गिरा-अलिनि मुख-पंकज रोकी। प्रकट न लाज-निसा अवलोकी।
सुनि सनेहमय मंजुल बानी। सकुचि सीय मन महँ मुसकानी॥

× × × × ×

तिनहि बिलोकि बिलोकति धरनी। दुहुँ सकोच सकुचित बरबरनी।
सकुचि सप्रेम बाल-मृग-नयनी। बोली मधुर बचन पिक-बयनी॥
बहुरि बदन बिधु अंचल ढाकी। पिय तन चितै भौंह करि बाँकी॥
खंजन मंजु तिरीछे नयननि। निज पति कहेहु तिनहिं सिय सयननि॥

[तुलसीदास]

ग्रहों के योग से विपत्ति तथा किसी अन्य कारण से आए हुए आवेश को अपस्मार कहते हैं। अपस्मार से आक्रांत व्यक्ति पृथ्वी पर गिर जाता है, पसीना बहने लगता है, साँस जोर से चलने लगती और मुख से फेन निकलने लगता है।

अपस्मार

लखि बिहाल एकै कहत, भई कहूँ भयभीत।
इकै कहत मिरगी लगी, लगी न जानत प्रीत॥

जा छिन तें छिन साँवरे रावरे लागे कटाच्छ कछू अनियारे।
त्यों पदमाकर ता छिन तें तिय सों अँग अंग न जात सँभारे॥
ह्वै हिय हायल घायल सी धन घूमि गिरी परी प्रेम तिहारे।
नैन गए फिर फैन बहै मुख चैन रह्यो नहिं मैन के मारे॥

[पद्माकर]

भय, विपत्ति, आवेश अथवा स्मृति के कारण उत्पन्न हुए चित्त के विक्षेप को मोह कहते हैं। इसमें अज्ञान, भ्रम, पछाड़ खाना, लड़खड़ाना, देख न सकना, आदि लक्षण दिखाई देते हैं।

मोह

सटपटात तस बैंहसी, दीह दृगन में नेह।
सुब्रजबाल मोही परत, निरमोही के नेह॥

दोउन को सुधि है न कछू बुधि वाई बलाई में बूड़ि बही है।
त्यों पदमाकर दीन मिलाय क्यों चंग चवाइन को उमही है॥
आजुहि की वा दिखादिख में दशा दोउन की नहिं जाति कही है।
मोहन मोहि रह्यो कब को कब की वह मोहन मोहि रही है॥

[पद्माकर]

शास्त्र आदि के उपदेशों को ग्रहण कर तथा भ्रांति का उच्छेदन कर तत्त्व का ज्ञान करानेवाली बुद्धि का नाम मति है।

मति

स्याम के संग सदा विलसी सिसुता में सुता मैं कछू नहिँ जानो।
भूलैं गुपाल सों गर्व कियो गुन जोवन रूप वृथा अरि· मानो॥
ज्यों न निगोड़ो तबै समझैा कवि देव कहा अब तो पछितानो।
धन्य जियैं जग में जन ते जिनको मनमोहन ते मन मानो॥

[देव]

पाछे पर न कुसंग के, पदमाकर यह डीठि।
परधन खात कुपेट ज्यों, पिटत बिचारी पीठि॥

[पद्माकर]

थकावट, गर्भ आदि कारणों से उत्पन्न हुई अकर्मण्यता को आलस्य कहते हैं। आलस्य में जँभाई आती है और बैठे ही रहने को जी चाहता है।

आलस्य

गोकुल में गोपिन गोविंद संग खेली फाग
राति भरि प्रात समै ऐसी छवि छलकैं।
देहैं भरी आरस कपोल रस रोरी भरे
नींद भरे नयनन कछूक झपैं झलकैं॥
लाली भरे अधर बहाली भरे मुख पर
कवि पदमाकर विलोकै कौन ललकैं।
भाग भरे लाल औ सुहाग भरे सब अंग
पीक भरी पलक अबीर भरी अलकैं॥
निसि जागी लागी हिए, प्रीति उमंगत प्रात।
उठि न सकत आलस-बलित, सहज सलोने गात॥

[पद्माकर]

मन के संभ्रम को आवेग कहते हैं। यह कई कारणों से हो सकता है। यदि राज्य-विप्लव अथवा आक्रमण से हो तो शस्त्रास्त्र ढूँढ़े जाते हैं और हाथी घोड़े सजाए जाते हैं।

आवेग

यदि आँधी के कारण हो तो चलनेवाला धूल से घबड़ाकर अपनी चाल तेज कर लेता है। यदि वर्षा उसका कारण होती है, तो मनुष्य अपने अंगों का संकोच कर लेता है। यदि उत्पात से हो तो अंग शिथिल हो जाते हैं। यदि इष्ट अथवा अनिष्ट संभोगों से हो तो तदनुसार हर्ष अथवा शोक होता है। अग्नि के कारण जो आवेग होता है उसमें मुँह धुएँ से भर जाता है और जब आवेग का कारण हाथी होता है तब भय, स्तंभ, कंप और भागने का प्रयत्न होता है।

हाट, बाट, कोट ओट अट्टनि, अगार, पौरि,
खोरि खोरि दौरि दौरि दीन्ही अति आगि है।
आरत पुकारत, सँभारत न कोऊ काहू,
व्याकुल जहाँ सो तहाँ लोग चले भागि हैं॥

बालधी फिरावै बार बार झहरावै, झरैं
बूँदिया सी, लंक पघिलाइ पाग पागिहै।
'लागि लागि आगि,' भागि भागि चले जहाँ तहाँ,
चिन्हूँ के कपि सों निसाचर न लागिहैं॥

[तुलसीदास]

संदेह को दूर करने के लिये विचार में पड़ना तर्क कहलाता है। उसमें व्यक्ति अपनी भौंहों, सिर, अंगों और उँगलियों को नचाता है।

तर्क

बालधी बिसाल बिकराल ज्वाल-जाल मानौं
लंक लीलिबे को काल रसना पसारी है।
कैधौं ब्योम-बीथिका भरे हैं भूरि धूमकेतु
बीररस बीर तरवारि सी उघारी है॥
तुलसी सुरेस चाप कैधौं दामिनी-कलाप
कैधौं चली मेरु तें कृसानु-सरि भारी है।
देखे जातुधान जातुधानी अकुलानी कहैं
कानन उजारयौ अब नगर प्रजारी है॥

[तुलसीदास]

अंगों के विकारों को, लज्जा आदि भावों के कारण, छिपाने को अवहित्था कहते हैं।

अवहित्था

निरखत ही हरि हरषकं, रहे सु आंसू छाय।
बूझत अलि केवल कह्यो, लाग्यो धूमहि धाय॥

[पद्माकर]

शारीरिक रोग को व्याधि कहते हैं। वियोग के कारण सन्निपात आदि व्याधियाँ हो जाती हैं, जिनका रूपकों तथा काव्यों में बहुधा वर्णन पाया जाता है।

व्याधि

ता दिन तें अति व्याकुल है तिय जा दिन तें पिय पंथ सिधारे।
भूख न प्यास बिना ब्रजभूषन भामिनि भूषण भेष बिसारे॥
पावत पीर नहीं कवि देव करोरिक मूरि सबै करि हारे।
नारि निहारि निहारि चले तजि बैद बिचारि बिचारि बेचारे॥

[देव]

कब की अजब अजार में, परी बाम तन-छाम।
तित कोऊ मति लीजियो, चंद्रोदय को नाम॥

[पद्माकर]

उन्माद

बिना सोचे-विचारे कोई काम करना उन्माद कहाता है। यह सन्निपात आदि शारीरिक रोगों से भी हो सकता है और ग्रह-योग आदि अन्य कारणों से भी। इसमें व्यक्ति बिना कारण रोता, गाता, हँसता तथा अन्य ऐसे ही काम करता है।

छिन रोवति छिन हँसि उठति, छिन बोलत, छिन मौन।
छिन छिन पर छीनी परति, भई दसा धौं कौन॥

[पद्माकर]

नव पुष्पित लोध के वृच्छनु ने, तन कोमल कांति लई सुकुमारी।
अरु लोचन चारु, कुरंगनु ने, गति मत्त मतंगनु ने मतवारी॥
इन बेलि नवेलिनु ने मन-मोहन नम्र सुभावहि की छवि धारी।
यह जान परै सबने बन में मिलि बाँट लई मम प्रानपियारी॥

[उत्तर-रामचरित]

विषाद

किसी आरंभ किए हुए काम में सफलता न प्राप्त कर सकने के कारण धैर्य के खो जाने को विषाद कहते हैं। इसमें व्यक्ति श्वासोच्छ्वास छोड़ता है, हृदय में दुःख का अनुभव करता है और सहायकों को ढूँढ़ता है।

अब न धीर धारत बनत, सुरति बिसारी कंत।
पिक पापी कूकन लग्यो, बगरौ अधिक बसंत॥

[पद्माकर]

किसी सुखदायक वस्तु की आकांक्षा से, अथवा प्रेमास्वाद के अभाव में या घबराहट के कारण समय न बिता सकने को औत्सुक्य कहते हैं। इसमें श्वासोच्छ्वास, हड़बड़ी, हृदय की वेदना, पसीना और भ्रम आदि लक्षण दिखाई देते हैं।

औत्सुक्य

सजे बिभूषण बसन सब, सुपिय मिलन की हौस।
सह्यो परति नहिं कैसहूँ रह्यो. अधघरी द्यौस॥

ताकिए तितै तितै कुसंभ सौ चुवाई परै प्यारी परवीन पाँव धरति जितै जितै।
कहैं पदमाकर सुपौन ते उताली बनमाली पै चली.यों बाल बासर बितै बितै॥
बारही के भारन उतारि देत आभरन हीरन के हार देत हिलि न हितै हितै।
चाँदनी के चौसर चहूँधा चौक चाँदनी में चाँदनी सी आई चंद-चाँदनी चितै चितै॥

[पद्माकर]

राग, द्वेष, मात्सर्य आदि के कारण एक स्थिति में न रह सकने को चपलता कहते हैं। उसमें भर्त्सना, कठोर वचन, स्वच्छंद आचरण आदि लक्षण पाए जाते हैं।

चपलता

चकरी लौं सकरी गलिन छिन आवत छिन जात।
परी प्रेम के फंद में, बधू बितावति रात॥

कौतुक एक लख्यौं हरि ह्यां पदमाकर यों तुम्हैं जाहिर की मैं।
कोऊ बड़े घर की ठकुराइन ठाढ़ी निघात रहै छिनकी मैं॥
झांकति है कबहूँ झझरीन झरोखनि त्यों सिरकी सिरकी मैं।
झांकति ही खिरकी मैं फिरै थिरकी थिरकी खिरकी खिरकी मैं॥

[पद्माकर]

ऊपर तेंतीस संचारी भावों का वर्णन किया गया है। परंतु इससे यह न समझना चाहिए कि इतने ही में इनकी समाप्ति है। प्राचीन आचार्यों ने रूपकों में इतने ही संचारियों को पाया, अतएव उन्होंने इतने ही का उल्लेख किया है। परंपरा-पालन की प्रवृत्ति के कारण आगे के आचार्य भी तेंतीस की ही संख्या से बँधे रहे और यदि किसी को कोई अन्य संचारी सूझे भी तो उनको इन्हीं तेंतीस में से किसी के अंतर्गत लाकर ठूँस देने की व्यवस्था कर दी गई। मात्सर्य, उद्वेग, दंभ, ईर्ष्या, विवेक, निर्णय, क्षमा, उत्कंठा, धृष्टता आदि भावों का भी संचारित्व देखने में आता है। परंतु रस-तरंगिणीकार की सम्मति है कि इन्हें असूया, त्रास, अवहित्था, अमर्ष, मति (विवेक और निर्णय दोनों को), धृति, औत्सुक्य और चपलता के अंतर्गत समझना चाहिए। केवल देव कवि ने हिंदी में छल को अलग ही चौंतीसवाँ संचारी माना है। देव की उक्ति श्रव्य काव्य के विषय में है, परंतु यह कोई कारण नहीं कि उसका नाट्य-शास्त्र में प्रयोग न हो सकता हो।

स्थायी भाव का उल्लेख ऊपर कर चुके हैं। वह सजातीय अथवा विजातीय किसी प्रकार के भावों से विच्छिन्न नहीं होता।

स्थायी भाव

अन्य भावों के द्वारा विच्छिन्न होना तो दूर रहा उलटे वह उन्हें अपने ही में मिला लेता है। उनकी विजातीयता भी उसकी पुष्टि का ही कारण होती है। सजातीय भावों के द्वारा स्थायी भाव के विच्छिन्न न होने का उदाहरण बृहत्कथा में मदनमंजूषा के प्रति नरवाहनदत्त का प्रेम है। उसके अनंतर और और नायिकाओं पर भी नरवाहनदत्त का प्रेम हुआ, परंतु इस कारण मदनमंजूषा पर उसका प्रेम कम न हुआ। इसी प्रकार विजातीय भाव के द्वारा विच्छिन्न न होने का उदाहरण मालती-माधव के पाँचवें अंक में मिलता है। वहाँ यद्यपि माधव

श्मशान का वीभत्स दृश्य देखता है जिससे उसके हृदय में जुगुप्सा उत्पन्न होती है, तथापि इससे उसके हृदय में मालती के प्रति जो रति भाव है वह कम नहीं होता। रति ही की प्रेरणा से वह प्रेतों के पास नर-मांस-विक्रय जैसा वीभत्स कर्म करने के लिये आया था।

भरत ने रति, हास, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, विस्मय और शोक ये आठ स्थायी भाव माने हैं।

(१) रति—स्त्री पुरुष के परस्पर प्रेम-भाव को रति कहते हैं।

(२) हास—किसी के अंगों तथा वाणी के विकारों के ज्ञान से जो प्रफुल्लता होती है उसे हास कहते हैं।

(३) क्रोध—अपना कोई बहुत बड़ा बिगाड़ करने पर अपराधी को दंड देने के लिये उत्तेजित करनेवाली मनोवृत्ति क्रोध कहाती है। क्रोध से उत्तेजित होकर मनुष्य अपने शत्रुओं को मार डालने तक को उद्यत हो जाता है, परंतु जब यही मनोवृत्ति किसी छोटे-मोटे से अपराध से उत्पन्न होने के कारण हलकी ही सी रहती है तब यह स्थायी भाव न होकर अमर्ष संचारी कहाती है।

(४) उत्साह—दान, दया और शूरता आदि के प्रसंग से उत्तरोत्तर उन्नत होनेवाली मनोवृत्ति को उत्साह कहते हैं।

(५) भय—प्रबल अनिष्ट करने में समर्थ विषयों को देखकर मन में जो व्याकुलता होती है उसे भय कहते हैं। किंतु यह व्याकुलता यदि किसी छोटे से अनर्थ के संबंध में हो और बहुत प्रबल न हो तो संचारी ही गिनी जायगी, स्थायी नहीं। उस अवस्था में उसे त्रास कहेंगे।

(६) जुगुप्सा—घृणोत्पादक वस्तुओं को देखकर उनसे संबंध न रखने के लिये बाध्य करनेवाली मनोवृत्ति को जुगुप्सा कहते हैं।

(७) विस्मय—किसी असाधारण अथवा अलौकिक वस्तु को देखकर जो आश्चर्य होता है उसे विस्मय कहते हैं।

(८) प्रिय वस्तु से वियुक्त होने पर मन में जो व्याकुलता उत्पन्न होती है वह शोक कही जाती है।

शम को भी स्थायी भाव मानते हैं और यह ठीक भी है। इसका विवेचन शांत रस के संबंध में करेंगे। किसी किसी ने पुत्र तथा मित्र के प्रति रति को स्थायी माना है। इसे भी आगे के लिये छोड़ देते हैं।

यद्यपि स्थायी भाव ही रस के प्रधान निष्पादक हैं, किंतु उनके रस-अवस्था तक पहुँचने के लिये पहले उनका जागरित तथा उद्दीप्त होना आवश्यक है। विभावों के द्वारा यह कार्य संपन्न होता है। वे ही भाव में आस्वाद-योग्यता के अंकुर उत्पन्न करते हैं। जो विभाव भाव को जगाते हैं उन्हें आलंबन कहते हैं और उसे उद्दीप्त अथवा तीव्र करनेवाला विभाव उद्दीपन कहलाता है। सुंदर पुष्पित और एकांत उद्यान में शकुंतला को देखकर दुष्यंत के हृदय में रति-भाव जागरित होता है। यहाँ पर शकुंतला आलंबन विभाव है और कुसुमित तथा एकांत उद्यान उद्दीपन विभाव। बिना विभावों के कोई भी भाव उदित नहीं होता। स्थायी भाव के ही लिये नहीं, संचारी भावों के उदय होने के लिये भी विभावों की अपेक्षा होती है। इस दृष्टि से संचारी और स्थायी भाव में इतना ही भेद है कि संचारी भाव के लिये स्वल्प विभाव ही पर्याप्त होते हैं, परंतु स्थायी भाव के उदय के लिये अल्प सामग्री से काम नहीं चलता, उसके लिये विभावों का बढ़-चढ़ा होना आवश्यक है।

विभाव

आंतरिक भावों का बाहरी आकृति आदि पर प्रभाव पड़ता है। रति भाव के उदय होने से चेहरे की कांति बढ़ जाती है, क्रोध के उदय होने पर होंठ काँपने लगते हैं, आँखें लाल और भौंहें टेढ़ी हो जाती हैं। इसी प्रकार और भावों में भी बाह्य लक्षण दिखाई देते हैं। इन लक्षणों को अनुभाव

अनुभाव

कहते हैं। अनुभाव का व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ ही 'भाव के पीछे होनेवाला' है। भाव कारण और अनुभाव कार्य है। अनुभावों के द्वारा भाव की सूचना मिलती है। जैसा कह चुके हैं, विभाव भाव को अंकुरित करता है परंतु अनुभाव उसे आस्वाद योग्य बना देता है। नायक है, नायिका भी है, वसंत ऋतु में कुसुमित कुंज और निर्जनता भी है। परिस्थिति नायक-नायिका में परस्पर रति-भाव के उदय के लिये अनुकूल है। परंतु इतने ही से हम इस परिणाम पर नहीं पहुँच सकते कि उनमें रति भाव का उदय हो ही गया। यह निश्चय तभी हो सकता है जब हम देखें कि नायक ठक सा रह गया है अथवा उसका हृदय धड़कने लगा है, शरीर में कंप हो आया है, आँखें ललचाई हुई हैं, इत्यादि; या नायिका लजीली दृष्टि से छिप-छिपकर उसकी ओर देख रही है अथवा उसे अपनी ओर आकृष्ट करने के लिये कोई उपाय कर रही है। अनुभावों से नायक नायिका को एक दूसरे के भावों को जानने में सहायता तो मिलती ही है जिससे रति-भाव पुष्ट होता जाता है, परंतु इससे अधिक महत्त्व अनुभावों का प्रेक्षक की दृष्टि से है, क्योंकि उन्हीं के द्वारा स्थायी भाव रस का रूप प्राप्त कर उसके हृदय में आस्वाद के रूप से आविर्भूत होता है।

अनुभाव तीन प्रकार के होते हैं—कायिक, मानसिक और सात्त्विक। स्थायी भाव के कारण उत्पन्न हुए अन्य भाव अथवा मनोविकार को मानसिक अनुभाव कहते हैं तथा आंतरिक अनुभूति के सूचक शारीरिक लक्षण कायिक अनुभाव कहाते हैं। यही अनुभाव जब मन की अत्यंत विह्वलकारी दशा से उत्पन्न होते हैं तब सात्त्विक कहलाते हैं। कुछ विद्वानों के मत में आहार्य भी एक अनुभाव है। वेश बदलकर भाव प्रदर्शित करने को आहार्य कहते हैं। हमारी समझ से इसकी गिनती अनुभावों के अंतर्गत नहीं की जानी चाहिए।

इसे अभिनय का एक अंग समझना चाहिए या यदि यों कहें कि यह अभिनय का बीज-रूप है तो अनुचित नहीं।

वैसे तो अनुभावों की गिनती नहीं हो सकती परंतु सात्त्विक अनुभावों की संख्या आचार्यों ने निश्चित कर दी है। सात्त्विक अनुभाव के आठ भेद होते हैं—स्तंभ, स्वेद, रोमांच, स्वरभंग, वेपथु, वैवर्ण्य, अश्रु और प्रलय। जीवन के लक्षणों के बने रहते कर्मेंद्रियों की सब गतियों का एकाएक रुक जाना स्तंभ कहाता है। विना परिश्रम किए हुए पसीना बह निकलना स्वेद सात्त्विक है। रोमांच में हर्ष, भय, क्रोध आदि के कारण शरीर के रोम खड़े हो जाते हैं। शारीरिक रोग के अभाव में स्वाभाविक ध्वनि के बदल जाने को स्वर-भंग कहते हैं। हर्षाधिक्य अथवा भय या क्रोध के कारण अंग अंग का सहसा काँप उठना वेपथु कहाता है। ज्वर अथवा क्षीणता के कारण जो कंप होता है वह सात्त्विक के अंतर्गत नहीं आवेगा, क्योंकि वह किसी आंतरिक अनुभूति का लक्षण नहीं है। शरीर के फीके पड़ जाने को (रंग उतर जाने को) वैवर्ण्य कहते हैं। यह भी हर्ष, शोक अथवा भय के कारण होता है। उसी प्रकार हर्षातिरेक, भय अथवा शोक के कारण आँखों से जो जल-धारा बहती है उसे अश्रु कहते हैं। धूएँ से अथवा जुकाम इत्यादि रोगों के कारण आँखों से जो आँसू निकलते हैं वे सात्त्विक के अंतर्गत नहीं आते। अपनी सुध-बुध भूल जाने को प्रलय कहते हैं।

विभाव, अनुभाव, संचारी भाव तथा स्थायी भाव का वर्णन हो चुका। यही सब सामग्री है जिसके द्वारा रस प्रस्तुत हो जाता है। यह हम पहले ही देख चुके हैं कि रस के मूल आधार स्थायी भाव हैं और विभाव, अनुभाव तथा संचारी भाव स्थायी भाव को रस की अवस्था तक पहुँचाने में सहायक होते हैं। स्वभावतः प्रश्न यह

उठता है कि वह कौन प्रक्रिया है जिससे रस का परिपाक होता है और इस सामग्री से उसका क्या संबंध है। भरत मुनि ने तो सीधे सादे ढंग से इतना ही लिख दिया है कि 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रस-निष्पत्तिः' अर्थात् विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। परंतु इससे उस प्रश्न का उत्तर नहीं मिलता क्योंकि 'संयोग' और 'निष्पत्ति' से भरत का क्या तात्पर्य है, यह ठीक ठीक नहीं विदित होता। भिन्न भिन्न आचार्यों ने इनसे भिन्न भिन्न अर्थ निकाले जिससे रस के संबंध में कई सिद्धांत चल पड़े।

भट्ट लोल्लट ने अपना उत्पत्तिवाद चलाया। उन्होंने कहा—निष्पत्ति से भरत का अभिप्राय था उत्पत्ति और संयोग से संबंध।

भट्ट लोल्लट का उत्पत्तिवाद

उनके अनुसार विभाव कारण थे और रस उनके कार्य। रस वस्तुतः नायक आदि पात्रों में रहता है। नट वेश-भूषा, वाणी, क्रिया आदि से उनका अनुकरण करता है जिससे उसमें भी रस की प्रतीति कर प्रेक्षक चमत्कृत होकर आनंदित हो जाते हैं। पर प्रेक्षकों के हृदय में रस वस्तुतः होता नहीं है। इस मत का मीमांसा शास्त्र के अनुकूल होना कहा गया है परंतु इसको स्वीकार करने में कई अड़चनें होती हैं। पहले तो यह बात समझ में नहीं आती कि भावों का अनुकरण कैसे किया जा सकता है। वेश-भूषा क्रिया, इत्यादि बाहरी बातों का अनुकरण किया जा सकता है और उनके द्वारा भावों की सूचना भी दी जा सकती है, परंतु स्वयं भावों का अनुभव-जन्य अनुकरण—चाहे वह गौण रूप में ही क्यों न हो—शक्य नहीं है। फिर यह भी संभव नहीं कि जिस भाव का प्रेक्षक को स्वयं अनुभव न हो उससे वह आनंद उठा सके। रस को विभाव आदि का कार्य मानना भी ठीक नहीं, क्योंकि कार्य कारण के अनंतर भी अस्तित्व में रह सकता है।

परंतु रस तभी तक रहता है जब तक विभाव आदि का प्रत्यक्ष दर्शन होता रहता है। फिर कारण और कार्य का पूर्वापर संबंध रहता है, किंतु विभावों का दर्शन और रस का आस्वादन दोनों साथ ही साथ होते हैं। कारण के पीछे कार्य चाहे कितनी ही जल्दी क्यों न आ उपस्थित हो, परंतु उसमें पूर्वापर संबंध रहता अवश्य है। चंदन-लेप का त्वचा पर स्पर्श होने और उसकी शीतलता का अनुभव होने में कुछ न कुछ समय लगता ही है, चाहे वह कितना ही स्वल्प क्यों न हो।

उत्पत्तिवाद से असंतुष्ट होकर श्री शंकुक, न्याय के आधार पर, अपने अनुमितिवाद को लेकर आगे आए। उन्होंने भरत के निष्पत्ति

श्री शंकुक का अनुमितिवाद

का अर्थ अनुमिति माना। उनके अनुसार विभाव अनुमापक हैं और रस अनुमाप्य। इन्हीं को गम्य और गमक भी कहते हैं। नायक में स्थायी भाव का अस्तित्व रहता ही है। विभाव अनुभाव आदि से, जिनको वह बड़ी कुशलता से अभिनय करके दिखाता है, नट में भी उसका अनुमान कर लिया जाता है, यद्यपि उसमें उसका (रस का) अस्तित्व नहीं रहता। बात यह है कि प्रेक्षक उस निपुण अभिनेता नट को ही नायक समझ लेता है। इस सुखद भ्रम में पड़कर उसे नायक के भावों का अनुमान हो जाता है। इस अनुमान के द्वारा प्रेक्षक जब इस भाव को समझने लगता है तब उसके (भाव के) सौंदर्य के कारण वह चमत्कृत हो जाता है और उसे एक प्रकार का अलौकिक आनंद मिलता है। यही आनंद स्वाद या रस है। चित्र-तुरग-न्याय के अनुसार (जैसे चित्र के घोड़े को लोग घोड़ा ही कहते हैं उसी प्रकार) प्रेक्षक अभिनेता को नायक समझता है और नायक की मनोवृत्तियों का उसमें आरोप कर स्वयं रसास्वाद का अनुभव करता है।

इस अनुमिति के विरुद्ध भी कई आक्षेप किए गए हैं। सबसे पहले तो इसमें इस तथ्य की अवहेलना की गई है कि प्रत्यक्ष ज्ञान से जो चमत्कार-पूर्ण आनंद मिल सकता है वह अनुमान से नहीं।

फिर उत्पत्ति के विषय में जो कठिनाई उठी थी वह इससे दूर नहीं होती। अनुमितिवाद तथा उत्पत्तिवाद दोनों में ही रस की सत्ता प्रेक्षक में नहीं मानी जाती। यदि मानी जाय तो प्रश्न यह उठेगा कि दूसरे व्यक्ति के भावों को उसने कैसे अपना लिया।

जैसा भट्ट नायक ने कहा है—यदि रस की अवस्थिति अन्य व्यक्ति में है और वह तटस्थ है तो प्रेक्षक स्वयं उससे प्रभावित नहीं हो सकता। नायक के कृत्यों से भी प्रेक्षक में रस का उदय मानना नहीं बनता, क्योंकि वे विभाव और अनुभाव, जिनके द्वारा नायक प्रभावित होता है, नायक ही के संबंध में विभावानुभाव हैं, प्रेक्षक के प्रसंग में नहीं।

इस पर कुछ विद्वानों का मत है कि विभावानुभाव आदि के द्वारा नायक के स्थायी भाव की प्रतीति होती है, जिसके कारण सहृदय प्रेक्षकों के हृदय में यह भावना उत्पन्न होती है कि नायक मैं ही हूँ। इस प्रकार की भावना के दोष से जो फल होता है वही 'संयोग' है। जिस प्रकार रज्जु में सर्प और शुक्ति में चाँदी का भ्रम होता है उसी प्रकार प्रेक्षक का हृदय भी कल्पित नायकत्व से छा जाता है। शकुं-तला नाटक देखते हुए प्रेक्षक को भ्रम होगा कि दुष्यंत मैं ही हूँ और शकुंतला के प्रति स्थायी भाव रति की, उसके हृदय में, एक विल-क्षण रूप से अवस्थिति होगी, जिसके विषय में न यही कहा जा सकता है कि वह है (सत्) क्योंकि वस्तुतः तो वह दुष्यंत के हृदय में थी, प्रेक्षक के हृदय में नहीं; और न यही कहा जा सकता है कि नहीं है (असत्); क्योंकि भ्रम-रूप में उसके हृदय में उसकी स्थिति है। इस मत के अनुसार आलंबन के प्रति नायक का स्थायी भाव प्रेक्षक

के हृदय में सर्वथा मिथ्या रूप में उत्पन्न होता है और आत्मा का परावर्तित चैतन्य उसे प्रकाशित करता है, जिससे रस-रूप में उसका आनंद मिलता है।

परंतु आलंबन के प्रति नायक के जो रति आदि स्थायी भाव होते हैं उनका प्रेक्षक के हृदय में उदय होना मानें तो यह देवता आदि पूज्य व्यक्तियों के विषय में कैसे निभेगा? जिन सीता देवी को प्रेक्षक परंपरा से जगन्माता मानते आए हों उनके विषय में राम की रति का उनके हृदय में उद्भव होना संभव नहीं। फिर नायक के वे पराक्रमी कार्य, जिनको करने में प्रेक्षक सर्वथा असमर्थ हैं, कैसे उसके हृदय में आ सकते हैं? जिन भावों का हमने स्वतः अनुभव नहीं किया है वे कैसे हमारे लिये विभावों का काम दे सकेंगे? राम के बाण-संधान मात्र करने से समुद्र में दाह उत्पन्न कर देना इत्यादि अलौकिक कृत्यों का हमें अनुभव हो ही नहीं सकता। फिर यदि प्रेक्षक नायक के ही भावों का अनुभव करता है तो रस सदैव आनंद-रूप नहीं माना जा सकता। रति के स्थान पर जब नायक को शोक हो रहा हो उस समय प्रेक्षक को भी इसके अनुसार शोक ही होना चाहिए जो आनंददायक नहीं, वरन् दुःखदायक होता है। और यदि यह बात होती तो भवभूति के लिखे नाटक इतने सर्वप्रिय न होते जितने कि वे वास्तव में हैं, क्योंकि करुण रस के होने के कारण वे उस दशा में दुःखदायक सिद्ध होते। इसलिये यह मत भी विद्वानों को न रुचा।

भट्ट नायक ने प्रेक्षक के हृदय में रस की अवस्थिति मानी है। उनके अनुसार स्थायी भाव से रस बनने तक की प्रक्रिया में तीन शक्तियों का हाथ रहता है। ये शक्तियाँ हैं—अभिधा, भावकत्व और भोजकत्व। अभिधा के द्वारा काव्य के सामान्य और आलंकारिक अर्थों का ज्ञान होता

भट्ट नायक का भुक्तिवाद

है। भावकत्व के द्वारा विभाव अनुभाव आदि व्यक्ति-संबंध से मुक्त होकर साधारण अर्थात् मनुष्य मात्र के अनुभव के योग्य बन जाते हैं। उनमें कोई विशेषता नहीं रहने पाती। प्रेक्षक के हृदय में यह ज्ञान नहीं रहता कि यह दुष्यंत की स्त्री शकुंतला है; वह उसको स्त्री मात्र समझता है। इसी प्रकार दुष्यंत पुरुष मात्र रह जाता है। व्यक्तित्व, देश-काल आदि विशेषताएँ दूर हो जाती हैं। इसका फल यह होता है कि स्थायी भाव मनुष्य मात्र के द्वारा भोग किए जाने के योग्य हो जाता है, साधारण हो जाता है : यहाँ संयोग का अर्थ सम्यक् अर्थात् साधारण रूप से योग अर्थात् भावित होना है। जिस क्रिया के द्वारा इस प्रकार साधारणीकृत स्थायी भाव का रस-रूप में भोग होता है उसे भोजकत्व कहते हैं। यह भोग ही निष्पत्ति है। रस के संबंध में जब 'भोग' का प्रयोग किया जाता है तो उसे सांसारिक अर्थ में नहीं समझना चाहिए। भोग के द्वारा रजस् और तमस् गुण निवृत्त होकर सत्त्व गुण की वृद्धि होती है, जिससे आनंद का प्रकाश होता है। यही आनंद रस है, जिसका भोग करते हुए मनुष्य थोड़ी देर के लिये सांसारिक बंधनों से निर्मुक्त होकर सार्वभौम चैतन्य-जगत् में प्रवेश पा जाता है। इसी से वह आनंद ब्रह्मानंद-सचिव कहाता है। ब्रह्मानंद और काव्यानंद (रस) में इतना ही भेद है कि ब्रह्मानंद तो सांसारिक विषयों से विरत होने पर होता है और नित्य है, परंतु काव्यानंद विषयों से उद्भूत होता है और थोड़े ही समय तक रहता है।

इस सिद्धांत पर यह आपत्ति हुई कि काव्य की इन तीन शक्तियों को मानने के लिये कोई आधार रूप प्रमाण नहीं है। जिन बातों के लिये युक्ति-युक्त नियम प्राप्त हो सकते हैं उनके लिये अप्रमाणित सिद्धांत का प्रचलन उचित नहीं। भट्ट नायक के सिद्धांत की विशेषता इसी में है कि उन्होंने भावकत्व और भोजकत्व ये दो नई

अभिनव गुप्त का अभिव्यक्तिवाद

क्रियाएँ मानी हैं। अभिनवगुप्ताचार्य के अनुसार इन दोनों क्रियाओं का काम व्यंजना और ध्वनि से चल जाता है। भावकत्व तो भावों का अपना गुण है ही। भरत मुनि ने इसी लिये कहा है कि 'काव्यार्थान् भावयंतीति भावाः'—जो काव्यार्थों को भावना का विषय बनावें वे भाव होते हैं। अभिनवगुप्त के अनुसार काव्यार्थ का यहाँ वह मुख्य अर्थ है जिसमें काव्य का आनंद निहित रहता है। संचारियों से पुष्ट होकर स्थायी भाव ही आस्वाद-युक्त काव्यार्थ के अस्तित्व के कारण होते हैं। अतएव वही (काव्यार्थ) रस का भावक है, क्योंकि उसी से रस व्यंजित होता है। रस का भोग भी आस्वाद के अतिरिक्त कोई दूसरी वस्तु नहीं। रस में भोग का भाव पहले ही से विद्यमान है। 'आस्वद्यत्वाद्रसः'—रस वही है जिसका आस्वाद हो सके, भोग हो सके। अतएव भोजकत्व को भी अलग शक्ति मानने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि वह ध्वनि के द्वारा संपन्न हो जाता है। इसलिये संयोग के अर्थ हैं ध्वनित या व्यंजित होना और निष्पत्ति के अर्थ हुए आनंद रूप में प्रकाशित होना।

परंतु रस की अभिव्यक्ति होती कैसे है? बात यह है कि मनुष्य भिन्न भिन्न परिस्थितियों में पड़कर जिन भावों का अनुभव करता है वे, वासना-रूप में, उसके हृदय में स्थिर हो जाते हैं। इस प्रकार स्थायी भाव वासना-रूप में पहले ही से उसके हृदय में विद्यमान रहते हैं। केवल बात इतनी है कि इस रूप में उनका अनुभव मनुष्य को नहीं होता, क्योंकि उनके विषय में आत्मा पर अज्ञान का आवरण छाया रहता है। निपुण अभिनय के द्वारा विभावानुभाव के प्रदर्शन से अज्ञान का आवरण हट जाने पर वे अभिव्यक्त हो जाते हैं। इस प्रकार आत्मानंद के प्रकाश में जब उनका अनुभव होता है तब वे रस कहे जाते हैं। या यह भी कह सकते हैं कि विभावानुभाव के प्रदर्शन पूर्व-संस्कार को उत्तेजित कर प्रेक्षक को

इतना तन्मय बना देते हैं कि उसकी चित्तवृत्ति आनंदमय हो जाती है। यही रसास्वादन है। चाहे जिस तरह लीजिए स्थायी भाव और चैतन्य के योग से ही रस की प्रतीति होती है। किंतु रस की अनुभूति तब तक संभव नहीं जब तक कि वासना-रूप संस्कार हृदय में पहले ही से विद्यमान न हों। जिस मनुष्य के हृदय में ये वासना-रूप संस्कार होते हैं वह सहृदय कहलाता है। मनुष्य सहृदय तीन प्रकार से हो सकता है। सांसारिक अनुभव से, पूर्व जन्म के संस्कारों से, और अभ्यास से। जिनको न सांसारिक अनुभव है, न पूर्व-जन्म के संस्कार हैं और जो इस जन्म में भी साहित्य-शास्त्र इत्यादि के अनुशीलन के द्वारा अभ्यास नहीं करते वे सहृदयों की श्रेणी में नहीं आते और रसास्वादन से वंचित रहते हैं।° मीमांसकों, वैयाकरणों आदि को साहित्यिकों ने इसी कोटि में रखा है। यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि आत्मानंद के प्रकाश में स्थायी भाव की जो रस-रूप आनंदानुभूति होती है उसमें भी लौकिकता नहीं रह जाती। सब वैयक्तिक संबंधों से मुक्त होकर निर्विशेष रूप से प्रेक्षक को उसकी अनुभूति मिलती है। इसी लिये उसे ब्रह्मा-नंद-सहोदर कहा जाता है।

यद्यपि रस का आनंद विषय-जन्य है तथापि विषयानंद से उसका कोई संबंध नहीं, इसी लिये उसे ब्रह्मानंद-सहोदर कहा है। रस का आस्वादन करते हुए मनुष्य अपने आपको भूल जाता है। वह अपने आपको मनुष्य-जाति से अलग व्यक्ति-विशेष नहीं समझता वरन् मनुष्य-मात्र होकर उसका अनुभव करता है।

प्रश्न उठ सकता है कि स्थायी भाव विभावानुभाव आदि लौकिक वस्तुओं से अलौकिक रस का उदय किस प्रकार संभव है। इसके उत्तर में शास्त्रकार यही कहा करते हैं कि जिस प्रकार मिस्री, मिरिच, कर्पूरादि के संयोग से तैयार होनेवाले पान (शर्बत) के रस का

स्वाद इन सब वस्तुओं से विलक्षण होता है उसी प्रकार इन लौकिक पदार्थों से भी अलौकिक रस का आविर्भाव होता है।

ऊपर अभिनवगुप्ताचार्य का जो मत दिया गया है, पीछे के नाट्य-शास्त्रकारों ने उसे ही स्वीकार किया है। धनंजय ने भी इसी को माना है। धनंजय का उनसे इतना ही भेद ज्ञात होता है कि धनंजय नट में भी आनंद मान बैठे हैं, जिसे अभिनवगुप्त नहीं मानते। इन शास्त्रकारों ने संक्षेप में रस की व्याख्या इस प्रकार की है। स्थायी भाव जब विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के योग से आस्वादन करने योग्य हो जाता है तब सहृदय प्रेक्षक के हृदय में रस-रूप से उसका आस्वादन होता है। स्थायी भाव के अनुभव और उसके आस्वादन में भेद है। अनुभव में भाव की सुख-दुःख-पूर्ण प्रकृति के अनुसार अनुभवकर्त्ता को भी सुख-दुःख होता है। परंतु उसका आस्वादन इनसे रहित है। रस की अवस्थिति इस मत के अनुसार न नायक में मानी जा सकती है, क्योंकि रस तो वर्तमान वस्तु है और नायक भूतकाल में था, वर्तमान नहीं है; और न नट में, क्योंकि नट का कार्य तो नायक आदि का अभिनय से अनुकरण मात्र करना है। वह तो केवल विभाव आदि को प्रेक्षक के सामने प्रदर्शित भर कर देता है। रस की अवस्थिति सहृदय प्रेक्षक में है। प्रेक्षक में भी स्थायी भाव आदि के ज्ञान मात्र ही से रस उत्पन्न नहीं होता। ऐसा होने से तो सबको एक सा आनंद नहीं हो सकता। अपने अपने स्वभाव के अनुसार अलग अलग भावों का अनुभव होगा। जैसे किसी दंपति के वास्तविक संयोग को देखकर किसी को लज्जा, किसी को घृणा, किसी को अभिलाष तथा किसी को ईर्ष्या होती है। वास्तव में बात यह है कि स्थायी भाव विभाव आदि में स्वतः कोई आनंद नहीं है प्रत्युत इन वस्तुओं से उनको (सहृदयों को) स्वयं अपने उत्साह के

कारण उसी प्रकार आनंद मिलता है जिस प्रकार बालकों को मिट्टी के खिलौनों से।

यह तो हुई रस के परिपाक की बात, परंतु कभी कभी ऐसा भी होता है कि रस उस परिपक्व अवस्था तक नहीं पहुँचता, जिसमें उसका आस्वादन होता है। चार अवस्थाओं में यह बात होती है। एक तो जब विभाव, अनुभाव आदि अन्य सामग्री के प्रबल न होने के कारण भाव अंकुरित होकर ही रह जाता है, आगे बढ़कर तीव्र नहीं होने पाता; दूसरे, जब एक भाव के उदय होते ही दूसरा भाव उदय होकर उससे प्रबल हो जाता है और उसे दबा लेता है; तीसरे, जब एक भाव मन को एक ओर खींचता है और दूसरा दूसरी ओर तथा दोनों में से कोई इतना प्रबल नहीं होता कि दूसरे को दबा सके; और चौथे, जब कई भाव एक ही साथ उदय होते हैं अथवा एक के अनंतर एक कई भाव उदय होते हैं और अपने से पूर्व के भाव को दबाते चलते हैं। पहली अवस्था को भावोदय, दूसरी को भावशांति, तीसरी को भाव-संधि और चौथी को भाव-शबलता कहते हैं। यद्यपि जहाँ रस पूर्णता को नहीं पहुँच पाता वहाँ रस मानना युक्ति-युक्त नहीं है, तथापि रूढ़ि के अनुसार ऐसे स्थल भी सरस ही माने जाते हैं।

अपूर्ण रस

भरत मुनि ने प्रधान रस चार माने हैं—शृंगार, वीर, वीभत्स और रौद्र। इनसे चार और रसों का उदय होता है। शृंगार से हास्य का, वीर से अद्भुत का, वीभत्स से भयंकर का और रौद्र से करुण का। इस प्रकार आठ रस हुए। शृंगार रति स्थायी से, वीर उत्साह से, वीभत्स जुगुप्सा से, रौद्र क्रोध से, हास्य हास से, अद्भुत आश्चर्य से, भयंकर भय से और करुण शोक से उदित होते हैं।

रस-भेद

काव्य-शास्त्रों में शांत भी एक रस माना जाता है, परंतु नाट्य-शास्त्रकारों ने इसे नाट्य रसों में इसलिये नहीं गिना है कि उनके

निर्वेद

अनुसार इसके स्थायी भाव शम का अभिनय नहीं किया जा सकता। शम के लिये पूर्ण संयम, इंद्रिय-निग्रह और निश्चेष्टता की आवश्यकता है। मन को बाह्य विषयों से हटाकर अंतर्मुख कर लेना पड़ता है। वे बातें नट में नहीं हो सकतीं। उसे तो शांत होने के लिये भी सचेष्ट होना पड़ेगा। परंतु यह उक्ति युक्तियुक्त नहीं जान पड़ती। नट के लिये तो यह आवश्यक नहीं कि जिस भाव का वह अभिनय करे उसका अनुभव भी करे। वह तो अपनी अनुकरण-निपुणता के कारण उसे दिखला भर देता है। जैसे वह और भावों का अभिनय करता है वैसे ही इसका भी कर सकता है। और जब निर्वेद संचारी का अभिनय हो सकता है तब कोई कारण नहीं कि निर्वेद स्थायी का भी अभिनय न किया जा सके। इसलिये महापात्र विश्वनाथ और पंडितराज जगन्नाथ आदि आचार्यों ने शांत रस की नाट्य रसों में गणना की है।

इस प्रकार रसों की संख्या नौ मानी गई है। इससे यह न समझना चाहिए कि रस के वस्तुतः भेद होते हैं। रस तो सदा भेद-रहित और एक-रस है। यह जो भेद माने गए हैं वह केवल स्थायी भावों के भेदों के आधार पर किए गए हैं जिससे रस-प्रक्रिया के ज्ञान में सुगमता हो।

कुछ नाट्य-शास्त्रकारों ने शृंगार रस के तीन प्रकार माने हैं—अयोग, विप्रयोग और संयोग। पीछे के काव्य-शास्त्रों में अयोग और

शृंगार रस

विप्रयोग दोनों को विप्रलंभ के अंतर्गत माना है, जिससे शृंगार के दो ही भेद ठहरते हैं। धनंजय के अनुसार जहाँ एक-चित्त दो नववयस्क व्यक्तियों (नायक-

नायिका) में प्रेम होने पर भी परतंत्रता के कारण संगम न हो सके वहाँ अयोग शृंगार होता है। किन्हीं दो युवा-युवती में यदि अत्यंत प्रेम-भाव है किंतु उनके माता-पिता उनके आपस में विवाहित होने में बाधा-स्वरूप हों तो यह अयोग शृंगार का उदाहरण होगा।

धनंजय के अनुसार अयोग की दस अवस्थाएँ होती हैं। पहले दोनों के हृदय में अभिलाष उत्पन्न होता है, फिर चिंतन, उसके अनंतर स्मृति, फिर गुण-कथन और तदुपरांत क्रमशः उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, संज्वर, जड़ता और मरण।

अयोग में तो अभी एक दूसरे का संयोग हुआ ही नहीं रहता है, किंतु विप्रयोग शृंगार वहाँ होता है जहाँ संयुक्त व्यक्ति वियुक्त हो जायँ। विप्रयोग दो प्रकार का होता है, मान-जनित और प्रवास-जनित। मान भी दो प्रकार का होता है, एक प्रणय-मान और दूसरा ईर्ष्या-मान। प्रेम से वशीभूत होने को प्रणय कहते हैं। इसके भंग होने से जो कलह होता है उसे प्रणय-मान कहते हैं। और जब यह सुनने, देखने अथवा अनुमान करने से कि नायक किसी दूसरी स्त्री से अनुरक्त है ईर्ष्या उत्पन्न होती है तब उसे ईर्ष्या-मान कहते हैं। अनुमान से ईर्ष्या-मान भी तीन प्रकार का होता है। एक में स्वप्न में कहे गए वचनों से अनुमान से होता है, दूसरे में भोग के चिह्नों से और तीसरे में अनजाने अन्य स्त्री का नाम मुख से निकल जाने से। मान के उपचार के उपाय बतलाए गए हैं—साम, भेद, दान, नति, उपेक्षा और रसांतर। प्रिय वचन कहना साम कहलाता है। नायिका की सखियों को अपने साथ मिला लेने को भेद कहते हैं। गहने इत्यादि देकर प्रसन्न करना दान और पाँवों में पड़ना नति कहाता है। यदि ये उपाय असफल हो जायँ तो नायिका की उपेक्षा करना चाहिए। धृष्टता, भय, हर्ष आदि भावों के प्रदर्शन से भी कोप-भंग किया जा सकता है। ऐसा करने से नायिका का मन दूसरे भावों की

ओर खिंच जाता है और वह अपने मान को भूल जाती है। यह रसांतर कहलाता है। इन उपायों का क्रमशः उपयोग विधेय कहा गया है।

प्रवास से विप्रयोग दो प्रकार का होता है। एक तो वह जिसमें प्रवास कार्यवश हो, दूसरा वह जो भ्रम अथवा शाप के कारण हो। पहले में तो जान बूझकर प्रवासी होना पड़ता है। यह तीन प्रकार का हो सकता है—भूत, भविष्यत् और वर्तमान। दूसरा प्रवास अचानक होता है और उसमें देव-कृत अथवा मनुष्य-कृत उत्पात प्रवास का कारण होता है। शाप से रूप के बदल जाने के कारण प्रेमिकों के पास ही रहने पर भी प्रवास ही समझना चाहिए।

दोनों में से एक के मर जाने पर जो विलाप होता है वह शोक का सूचक है। उसे शृंगार न समझकर करुण रस में गिनना चाहिए। रति वहाँ समझी जायगी जहाँ मृत्यु का निवारण हो सके जहाँ मृत प्रेमी पुनरुज्जीवित हो जाय वहाँ शृंगार ही मानना चाहिए।

प्रणय-मान और अयोग के कारण विरहिणी नायिका को उत्का कहते हैं। प्रवास के कारण विरहिणी को प्रोषितपतिका, ईर्ष्या के कारण वियुक्त नायिका को कलहांतरिता और जिसका पति अन्य से अनुराग रखता हो उसे खंडिता कहते हैं।

जैसा कह चुके हैं, अन्य आचार्यों ने अयोग और विप्रयोग दोनों को एक में सम्मिलित कर उसे 'विप्रलंभ' संज्ञा दी है, जिसकी सीधी-सादी व्याख्या है 'वियोग के समय होने वाली रति'।

संयोग के समय जो रति होती है उसे संयोग अथवा संभोग शृंगार कहते हैं। संयोग शृंगार के लिये इतना ही आवश्यक नहीं है कि नायक-नायिका पास रहें। खंडिता नायिका और नायक यदि एक दूसरे को स्पर्श भी कर रहे हों तो भी वियुक्त ही कहलाएँगे। ऐसी अवस्था में संयोग शृंगार नहीं होगा, विप्रलंभ

(धनंजय आदि के अनुसार विप्रयोग) होगा। संयोग और वियोग चित्त की वृत्ति पर अवलंबित है। हम संयुक्त हैं अथवा वियुक्त, नायक-नायिका के इन भावों के आधार पर ही संयोग-वियोग का निश्चय किया जा सकता है। अतएव संयोग के लिये यह आवश्यक है कि सामीप्य के साथ साथ दोनों में एकचित्तता तथा परस्पर-अनुकूलता हो, और उसके कारण प्रसन्नता भी हो। इसलिये धनंजय ने संभोग शृंगार की व्याख्या इस प्रकार की है—संभोग शृंगार उसे कहते हैं जिसमें दोनों विलासी (नायक-नायिका) परस्पर अनुकूल होकर दर्शन, स्पर्श आदि के द्वारा आनंदपूर्वक एक दूसरे का सेवन (उपभोग) करते हैं। जैसे, नीचे लिखे पद्य से व्यंजित होता है।

> संसर्ग अति लहि हम मिलाए, मुदित कपोल कपोल सों।
> दृढ़ पुलकि आलिंगन कियो, भुज मेलि तव भुज लोल सों॥
> कछु मंद बानी सन विगत क्रम, कहत तोसों भामिनी।
> गए बीत चारहु पहर पै नहिं जात जानी जामिनी॥

[उत्तर-रामचरित]

शृंगार रस सबसे अधिक व्यापक रस है। इसमें आठों स्थायी भावों का, आठों सात्त्विकों का और सभी संचारियों का रस-पुष्टि के लिये उपयोग हो सकता है। परंतु रस-पुष्टि के लिये इनका उपयोग करने में निपुणता की आवश्यकता है, नहीं तो रस-विरोध होने के कारण उसके आस्वादन में व्यवधान पड़ेगा। कई रस ऐसे हैं जो स्वभावत: एक दूसरे के विरोधी हैं। इनका विवरण रस-विरोध के प्रकरण में यथास्थान दिया जायगा। इसी प्रकार आलस्य, उग्रता, मरण और जुगुप्सा संचारी आश्रय-भेद से अथवा एक ही आलंबन विभाव के संबंध में नहीं प्रयुक्त किए जाने चाहिएँ। अन्यथा रस की चर्वणा में बाधा पड़ेगी।

अपने अथवा पराए परिधान, वचन अथवा क्रिया-कलाप से उत्पन्न हुए हास का परिपुष्ट होना हास्य रस कहलाता है। पंडित-राज जगन्नाथ आत्मस्थ और परस्थ का दूसरा ही अर्थ लेते हैं। आलंबन की विकृत दशा आदि में देखने मात्र से जो हास स्वतः उत्पन्न होता है वह आत्मस्थ और जो उस पर दूसरे को हँसते देखकर उत्पन्न होता है वह परस्थ। हास्य के छः भेद होते हैं—स्मित, हसित, विहसित, उपहसित, अपहसित और अतिहसित। जिसमें केवल नेत्र विकसित हों उसे स्मित, जिसमें कुछ कुछ दाँत भी दिखाई दें वह हसित, जिसमें मधुर ध्वनि भी हो वह विहसित, जिसमें सिर हिलने लगे वह उपहसित, जिसमें हँसते हँसते आँसू आने की नौबत आ जाय वह अपहसित और जिसमें सारा शरीर हिलने लगे तथा पेट में बल पड़ जाय उसे अतिहसित कहते हैं। स्मित और हसित उत्तम पुरुष में, विहसित और उपहसित मध्यम पुरुष में, और अपहसित और अतिहसित अधम पुरुष में माने गए हैं। निद्रा, आलस्य, श्रम, ग्लानि और मूर्च्छा हास्य के सहायक संचारी हैं।

हास्य-रस

प्रताप, विनय, अध्यवसाय, सत्त्व (धैर्य), अविषाद (हर्ष), नय, विस्मय, विक्रम आदि विभावों से उत्साह स्थायी का परिपाक होने पर वीर रस होता है। इसमें मति, गर्व, धृति और प्रहर्ष संचारी सहायक होते हैं। वीर रस तीन प्रकार का माना जाता है। दयावीर, दानवीर और युद्ध-वीर। नागानंद में जीमूतवाहन दयावीर के, महावीर-चरित में राम युद्धवीर के तथा पौराणिक आख्यानों में राजा बलि दानवीर के उदाहरण हैं। परंतु वीर रस को इन तीन भेदों में विभाजित करने में अव्याप्ति दोष है। वीर इसी भाँति और भी कई प्रकार

वीर-रस

के हो सकते हैं। सत्यवीर जैसे राजा हरिश्चंद्र, धर्मवीर जैसे हकीकत राय, इत्यादि पर इन सबमें प्रधान युद्धवीर ही है।

आश्चर्यजनक लौकिक पदार्थों से अद्भुत रस होता है। साधुता (वाह वाही, आश्चर्य-प्रकाशन), अश्रु, वेपथु, स्वेद और गद्गद वाणी-ये इसके अनुभाव होते हैं और हर्ष, आवेग, धृति आदि इसके पोषक संचारी भाव। उदाहरण-

अद्भुत

लीन्हों उखारि पहार बिसाल चल्यो तेहि काल बिलंब न लायो।
मारुतनंदन मारुत को, मन को, खगराज को वेग लजायो॥
तीखी तुरा तुलसी कहतो पै हिए उपमा को समाउ न आयो।
मानो प्रतच्छ परब्बत की नभ लीक लसी कपि यों धुकि धायो॥

[तुलसीदास]

वीभत्स रस का आधार जुगुप्सा है। इसमें कीड़े, सड़न, कै आदि से उद्वेग होता है। रक्त, अँतड़ियाँ, हड्डियाँ और मज्जा-मांस आदि के दर्शन से क्षोभ होता है। वैराग्य होने पर जब स्त्रियों की जंघाओं तथा स्तन आदि अंगों पर घृणा होती है तब भी वीभत्स रस ही की प्रतीति होती है। इस रस में नासा-संकोच और मुख मोड़ना आदि अनुभाव और आवेग, व्याधि तथा शंका—ये संचारी भाव होते हैं। मालती-माधव का यह पद्य वीभत्स का अच्छा उदाहरण है—

वीभत्स रस

उतिन उतिन चाम फेरि ताहि काढ़त हैं,
लोथि कों उठाइ भखैं ऐसे बे-अतंक हैं।
सरयो मांस कंधो जाँघ पीठ औ नितंबनु कौ,
सुलभ चबाइ लेत रुचि सौं निसंक हैं॥
रैंथि डारैं नाड़ी नेत्र आंत औ निकारैं दाँत,
लिथरै सरीर जिन सोनित की पंक हैं।

अस्थिनु पै ऊँचौ नीचौ और तिन बीच ह्वै कै,
धीरे धीरे कैसे मांस खात प्रेत रंक हैं ॥

वीभत्स और हास्य रस के विषय में एक शंका उत्पन्न हो सकती है। रस का आधार स्थायी भाव है। भाव के लिये एक आलंबन चाहिए और एक आश्रय। आलंबन तो वह है जिसे देखकर भाव उदय हो और आश्रय वह है जिसके मन में उस भाव का उदय होता है। जैसे शृंगार रस में नायक अथवा नायिका यथा-अवसर आश्रय अथवा आलंबन हो सकते हैं। हास्य और वीभत्स रस के संबंध में आलंबन तो क्रमशः अपने अथवा अन्य के अंग, वाणी अथवा क्रिया-विकार तथा घृणोत्पादक वस्तुएँ हैं, पर आश्रय कौन है ? स्थायी भाव किसके मन में उदित होता है ? उसका तो इसमें कहीं वर्णन नहीं होता। क्या सुननेवाले को ही उसका आश्रय भी मान लें ? परंतु वह हो नहीं सकता क्योंकि सुननेवाला तो रस का आस्वादन करता है, भाव का अनुभव नहीं करता। पहले तो यह बात सदैव नहीं होती कि इन रसों के संबंध में आश्रय का उल्लेख न हो। ऊपर मालती-माधव से जो पद्य उद्धृत किया गया है उसमें माधव आश्रय है। परंतु यदि आश्रय का स्पष्ट उल्लेख न भी हो तो पंडितराज जगन्नाथ की यह सम्मति है कि ऐसी अवस्था में किसी दर्शक का ऊपर से आक्षेप कर लेना चाहिए।

विकृत स्वर और अधैर्य आदि विभावों से उदित भय स्थायी से भयानक रस की उत्पत्ति होती है। इसमें वेपथु, स्वेद, शोक और वैचित्र्य—ये अनुभाव और दैन्य, संभ्रम, मोह, त्रास आदि संचारी उसके सहायक होते हैं।

भयानक रस

हरहरात इक दिसि पीपल कौ पेड़ पुरातन।
लटकत जामें घंट घने माटी के बासन ॥

वर्षा ऋतु के काज औरहू लगत भयानक।
सरिता बहति सवेग करारे गिरत अचानक॥
ररत कहूँ मंडूक कहूँ झिल्ली झनकारैं।
काक-मंडली कहूँ अमंगल मंत्र उचारैं॥
भई आनि तब साँझ घटा आई घिरि कारी।
सनै सनै सब ओर लगी बाढ़न अँधियारी॥
भए इकट्ठा आनि तहाँ डांकिनि पिचास गन।
कूदत करत कलोल किलकि दौरत तोरत तन॥
आकृति अति विकराल धरे कुइला से कारे।
बक्र बदन लघु लाल नयन जुत जीभ निकारे॥

[रत्नाकर]

शत्रु के प्रति मत्सर तथा घृणा आदि भावों से विभावित, क्षोभ, अपने होठों को दाँतों से दबाना, कंप, भ्रुकुटि टेढ़ी करना, पसीना, मुख का लाल होना, शस्त्रास्त्रों को चमकाना, गर्वोक्ति करते कुए कंधे फैलाना, धरणी को जोर से चाँपना, प्रतिज्ञा करना आदि अनुभावों से परिवृद्ध तथा अमर्ष, मद, स्मृति, चपलता, असूया, उग्रता, आवेग आदि संचारियों से परिपुष्ट क्रोध स्थायी को रौद्र रस कहते हैं।

रौद्र रस

बारि टारि डारौं कुंभकर्णै ही बिदारि डारौं,
मारौं मेघनादै आज यों बल अनंत हौं।
कहै पदमाकर त्रिकूट को ढाहि डारौं,
डारत करेई यातुधानन को अंत हौं॥
अच्छहि निरच्छ कपि रुच्छ ह्वै उचारौं इमि
तोसे तिच्छ तुच्छन को कछुवै गिनंत हौं।
जारि डारौं लंकही उजारि डारौं उपवन,
फारि डारौं रावण को तौ मैं हनुमंत हौं॥

[पद्माकर]

शोक स्थायी से करुण रस होता है। इसमें इष्ट-नाश अथवा अनिष्टागम आदि विभाव और निःश्वास, उच्छ्वास, रुदन, स्तंभ, प्रलाप आदि अनुभाव तथा निद्रा, अपस्मार, दैन्य, व्याधि, मरण, आलस्य, आवेग, विषाद, जड़ता, उन्माद और चिंता आदि संचारी भाव सहायक होते हैं। इष्ट-नाश से करुण—

करुण रस

मेरो सब पुरुषारथ थाको।
बिपति-बँटावन बंधु-बाहु बिनु करौं भरोसो काको ?
सुनु सुग्रीव साँचेहूँ मो पर फेर्यौ बदन बिधाता।
ऐसे समय समर-संकट हौं तज्यौं लषन सम भ्राता।
गिरि कानन जैहैं साखामृग हौं पुनि अनुज सँघाती॥
ह्वै है कहा बिभीषन की गति रही सोच भरि छाती।

[तुलसीदास]

रत्नावली में सागरिका का कैद किया जाना अनिष्टागम से करुण का अच्छा उदाहरण है।

यह कहा जा चुका है कि प्राचीन नाट्याचार्य शांत को नाट्य रस में नहीं गिनते, और यह भी बताया जा चुका है कि शांत रस को क्यों नाट्य रस मानना चाहिए। शम नामक स्थायी भाव के परिपाक की अवस्था में पहुँचने से शांत रस होता है। सांसारिक सुख तथा देह की क्षणभंगुरता, संत-समागम और तीर्थाटन आदि इसके विभाव हैं तथा सर्वभूत दया, परमानंद की अवस्था, तल्लीनता, रोमांच आदि इसके अनुभाव हैं। मति, चिंता, धृति, स्मृति, हर्ष आदि संचारी भाव इसके परिपोषक हैं।

शांत रस

मानुष हौं तो वही रसखान बसौं सँग गोकुल गाँव के ग्वारन।
जो पशु हौं तो कहा बसु मेरो चरौं नित नंद की धेनु मँझारन॥

पाहन हौं तो वही गिरि को जो धर्यो कर छत्र पुरंदर धारन।
जो खग हौं तो बसेरो करौं मिलि कालिंदि-कूल-कदंब की डारन॥

रस-विरोध को हमने उपयुक्त स्थान के लिये छोड़ दिया था। अब उसका वर्णन कर देना अच्छा होगा। कुछ रस स्वभाव ही से आपस में विरोधी माने गए हैं। करुण, वीभत्स, रौद्र, वीर और भयानक, शृंगार के; करुण और भयानक, हास्य के; हास्य और शृंगार करुण के; हास्य, शृंगार, भयानक और अद्भुत, रौद्र के; भयानक और शांत, वीर के; शृंगार, वीर, रौद्र, हास्य और शांत, भयानक के; शृंगार वीभत्स का, रौद्र अद्भुत का और शृंगार, वीर, रौद्र, हास्य और भयानक शांत रस के विरोधी माने जाते हैं। जहाँ शृंगार की चर्चा हो वहाँ जुगुप्सा, क्रोध, शोक, और भय के भावों की चर्चा रंग में भंग करना ही मानी जायगी। इसी प्रकार शोक के समय हँसी मजाक अथवा प्रेम का राग अलापना तथा हँसी के अवसर पर शोक और भय करना भी अवसरोचित नहीं है। ऐसे ही और के विषय में समझना चाहिए।

रस-विरोध

परंतु प्रत्येक दशा में विरोधी रसों का एक साथ वर्णन सदोष नहीं होता। दोष तभी होगा जब विरोधी रस या तो एक ही आलंबन या एक ही आश्रय से संबंध रखते हों या इतने सन्निकट हों कि एक दूसरे के ज्ञान को बाधित करें। पहले दो को स्थिति-विरोध कहते हैं और तीसरे को ज्ञान-विरोध। विरोधी रसों को अलग अलग आलंबनों अथवा आश्रयों में स्थित कर देने से स्थिति-विरोध का निराकरण हो जाता है और अविरोधी रस को विरोधी रसों के मध्य में रखने से विरोध का। रस-गंगाधर से इन दोनों के उदाहरण यहाँ पर दिए जाते हैं—

'हे राजन् खैंचकर कुंडली धनुष को हाथ में लिए हुए आपके सामने शत्रु वैसे ही नहीं ठहर सके जैसे मृग सिंह के सामने

नहीं ठहर सकते।' इसमें वीर और भयानक रस एक ही साथ आया है परंतु यहाँ स्थिति-विरोध इसलिये नहीं आ पाया है कि दोनों का अलग अलग नायकों से संबंध है। इसी प्रकार 'अप्सराओं से आलिंगित, विमानों में बैठे हुए वीर आकाश से पृथ्वी पर सियारियों से घिरे हुए अपने शवों को देख रहे हैं' से परस्पर ज्ञान-बाधक रसों का वर्णन होने पर भी ज्ञान-विरोध का परिहार हो गया है क्योंकि दोनों के बीच में एक अविरोधी रस रख दिया गया है। "अप्सराओं से आलिंगित" कहने से शृंगार रस की व्यंजना होती है और "सियारियों से घिरे हुए अपने शवों को देख रहे हैं" से वीभत्स की। ये दोनों परस्पर ज्ञान-विरोधी हैं। इनके बीच 'स्वर्ग-यात्रा' से वीर रस का आक्षेप किया गया है जिससे ज्ञान-विरोध की शांति हो गई है। एक साथ दो विरोधी रसों को लाने के इच्छुक नाट्यकारों तथा कवियों को इन बातों का ध्यान रखना आवश्यक बतलाया गया है।

नवाँ अध्याय

भारतीय रंगशाला या प्रेक्षागृह

इस संबध में बड़ा मतभेद है कि प्राचीन समय में प्रेक्षागृह या रंगशालाएँ बनती थीं या नहीं। शास्त्रकारों ने जो कुछ विवेचन किया है, उससे यह पता चलता है कि नाटक अभिनय के लिये रचे जाते थे। पर साथ ही ऐसे नाटक भी होते थे जो कहने के लिये तो दृश्य काव्य के अंतर्गत गिने जा सकते थे, पर वास्तव में जिनका आनंद पढ़ने में ही आता था। पद पद पर श्लोकों की भरमार सजीवता और स्वाभाविकता का मूलोच्छेद करनेवाली होती है। इस अवस्था में इस सिद्धांत पर पहुँचे विना संतोष नहीं होता कि कुछ नाटक तो अवश्य अभिनय के लिये रचे जाते थे; पर साथ ही ऐसे नाटकों की भी रचना होती थी जो केवल पढ़े जाते थे और जिनका अभिनय या तो हो ही नहीं सकता था, या यदि होता भी होगा तो वह अस्वाभाविक जान पड़ता होगा। पर इसमें संदेह नहीं है कि प्राचीन समय में रंगशालाएँ बनाई जाती थीं। भरत मुनि ने अपने नाट्य-शास्त्र में यह बतलाया है कि रंगशालाएँ, जिनको उन दिनों प्रेक्षागृह कहते थे, कितने प्रकार की होती थीं और किस प्रकार बनाई जाती थीं। इसका कुछ विवेचन हम पहले अध्याय में कर चुके हैं। भरत मुनि के अनुसार प्रेक्षागृह तीन प्रकार के होते थे—विकृष्ट, चतुरस्र और त्र्यस्र। विकृष्ट प्रेक्षागृह सबसे अच्छा होता है और वह देवताओं के लिये है। उसकी लंबाई १०८ हाथ होती है। चतुरस्र प्रेक्षागृह मध्यम श्रेणी का होता है और उसकी लंबाई ६४ हाथ तथा चौड़ाई ३२ हाथ

रंगशाला या प्रेक्षागृह

होती है। त्र्यस्त्र त्रिकोण या त्रिभुजाकार होता है और वह निकृष्ट माना जाता है। चतुरस्त्र राजाओं, धनवानों तथा सर्वसाधारण के लिये होता है और त्र्यस्त्र में केवल आपस के थोड़े से मित्र या परिचित बैठकर नाटक देखते हैं। सभी प्रकार के प्रेक्षागृहों का आधा स्थान दर्शकों के लिये और आधा अभिनय तथा पात्रों के लिये नियत रहता है। रंग-मंच का सबसे पिछला भाग रंगशीर्ष कहलाता है जो छः खंभों पर बना होता है और जिसमें नाट्यवेद के अधिष्ठाता देवता का पूजन होता है। इसमें से नेपथ्यगृह* में जाने के लिये दो द्वार होते हैं।

रंगमंच के खंभों और दीवारों पर बहुत अच्छी नक्काशी और चित्रकारी होनी चाहिए और स्थान स्थान पर वायु तथा प्रकाश आने के लिये झरोखे होने चाहिएँ। रंगमंच ऐसा होना चाहिए जिसमें आवाज अच्छी तरह गूँज सके। वह दो खंडों का भी होता है। ऊपरवाले खंड में स्वर्ग आदि के दृश्य दिखाए जाते हैं। रंगमंच के खंभों पर नकाशी के साथ पशुओं, पक्षियों आदि के चित्र खुदे होने चाहिएँ और भीतों पर पहाड़ों, जंगलों, नदियों, मंदिरों, अट्टालिकाओं आदि के सुंदर चित्र बने होने चाहिएँ। भिन्न भिन्न वर्णों के दर्शकों के लिये भिन्न भिन्न स्थान होने चाहिएँ। ब्राह्मणों के बैठने

---

*कुछ विद्वानों ने नेपथ्य शब्द की व्युत्पत्ति पर विचार करके यह सिद्धांत निकाला है कि यह रंग-मंच से नीचा होता था। यदि यह ठीक माना जाय तो पात्रों के रंग-मंच पर प्रवेश के लिये 'रंगावतरण' शब्द इसके ठीक विपरीत भाव को प्रकट करेगा। ऐसा जान पड़ता है कि रंग-मंच के बनाने में आवश्यकतानुसार नेपथ्य बना लिया जाता था। नीचाई ऊँचाई के किसी सर्वमान्य और व्यापक नियम का पालन नहीं होता था।

का स्थान सबसे आगे होना चाहिए और संकेत के लिये वहाँ सफेद रंग के खंभे होने चाहिएँ। उनके पीछे क्षत्रियों के बैठने का स्थान हो जिसके खंभे लाल हों। उनके पीछे उत्तर-पश्चिम में वैश्यों के लिये और उत्तर-पूर्व में शूद्रों के लिये स्थान हो, और इन दोनों स्थानों के खंभे क्रमशः पीले और नीले हों। थोड़ा सा स्थान अन्य जातियों के लिये भी रक्षित रहना चाहिए। यदि अधिक स्थान की आवश्यकता हो तो ऊपर दूसरा खंड भी बना लेना चाहिए। इस विवरण से यह स्पष्ट विदित होता है कि भारतवर्ष में रंगशालाओं के बनाने के विधान थे। परंतु प्रायः जब महलों में नाटक खेले जाते होंगे, तब साधारणतः कामचलाऊ रंग-मंच की रचना कर ली जाती होगी।

यह तो भारतीय रंगशाला की अवस्था थी। ऐसा विदित होता है कि पीछे से इन रंगशालाओं के निर्माण के ढंग पर विदेशीय प्रभाव भी पड़ा। बहुत दिन हुए, सरगुजा रियासत के रामगढ़ स्थान में दो पहाड़ी गुफाओं का पता लगा था। उनमें से एक गुफा में एक प्रेक्षागृह बना है जो कई बातों में यूनानी नाट्यशालाओं से मिलता है। उस प्रेक्षागृह में कुछ चित्रकारी भी है जो बहुत दिनों की होने के कारण बहुत कुछ मिट गई है; पर जो कुछ अंश बचा है उससे विदित होता है कि वह अंश कई बातों में भरत मुनि के नाट्यशास्त्र में बतलाई हुई चित्रकारी से मिलता है। प्रेक्षागृह के पास की दूसरी गुफा के भीतर अशोक लिपि में एक लेख भी खुदा हुआ है। पुरातत्त्ववेत्ताओं का मत है कि वह शिलालेख और गुफा ईसा से कम से कम तीन सौ वर्ष पहले की है। शिलालेख से पता चलता है कि वह गुफा सुतनुका नाम की किसी देवदासी ने नर्त्तकियों के लिये बनवाई थी।

रंगमंच के पीछे एक परदे के रहने का भी उल्लेख मिलता है। इसे यवनिका या जवनिका कहा गया है। इस शब्द के आधार पर

यवनिका

कुछ लोगों ने यह अनुमान किया है कि भारतीय नाटकों का आधार यूनानी नाटक हैं; पर इस बात का कोई प्रमाण नहीं मिलता। इस शब्द के आधार पर अधिक से अधिक यही कहा जा सकता है कि जिस कपड़े का यह परदा बनाया जाता था, वह यवन देश (यूनान) से आता होगा। इस परदे को हटाकर नेपथ्य से आ जा सकते थे। इसके गिराने या चढ़ाने का कोई प्रमाण नहीं मिलता। कहीं कहीं यह भी लिखा मिलता है कि जिस रूपक में जो रस प्रधान हो, उसी के अनुसार परदे का रंग भी होना चाहिए। भिन्न भिन्न रसों के सूचक भिन्न भिन्न रंग माने गए हैं; जैसे रौद्र का लाल, भयानक का काला, हास्य का श्वेत, शृंगार का श्याम, करुण का कपोत (ख़ाकी), अद्भुत का पीत, वीभत्स का नील और वीर का हेमवर्ण (सुनहला)। किसी किसी आचार्य का यह भी कहना है कि सब अवस्थाओं में परदा लाल रंग का ही होना चाहिए।

रूपक का मूल उद्देश्य यही है कि जो कुछ दिखाना हो, उसे स्पष्ट करके दिखाया जाय। इसी को नाट्य कहा भी गया है। पर ऐसा

नाट्य, वेश-भूषा आदि

जान पड़ता है कि रूपक में बहुत सी बातें केवल नाट्य करके बतला दी जाती थीं। जैसे यदि नदी पार करने का दृश्य दिखाना हो तो इसके लिये यह आवश्यक नहीं माना गया है कि रंगमंच पर जल का प्रवाह हो और पात्र उसमें से होकर जाय। वरन् कपड़ों को उठाकर कमर में बाँध लेने तथा हाथों से ऐसा नाट्य करने से मानों पानी में से हलकर या तैरकर जा रहे हैं, इस कृत्य की पूर्ति मान ली जाती थी। इसी प्रकार यदि रथ पर चढ़ने-उतरने का अभिनय करना हो तो उसका नाट्य करना

पर्याप्त था। वास्तव में रंगमंच पर रथ को लाने या उस पर चढ़ने आदि की आवश्यकता नहीं थी। सारांश यह कि शरीर के अंग का प्रयोग करके वास्तविक कृत्य की सूचना दे देने का विधान किया गया था, और ऐसा जान पड़ता है कि प्रेक्षकगण इन संकेतों को समझकर रूपक का आनंद उठा सकते थे। वेश-भूषा आदि के संबंध में भी विवेचन किया गया है। कपड़ों के रंग तक गिनाए गए हैं; जैसे आभीर-कन्याएँ नीले रंग का कपड़ा पहने रहें; धर्म-कृत्यों के समय सफ़ेद रंग का कपड़ा हो; राजा आदि भड़कीले रंग के कपड़े पहनें, इत्यादि। चेहरे को रँगने का भी विधान है; जैसे—अंध्र, द्रविड़, कोशल, पुलिंद असित रंग के; शक, यवन, पह्लव, वाह्लीक गौर वर्ण के तथा पांचाल, शौरसेन, मागध, अंग, वंग आदि श्याम रंग के दिखाए जायँ। शूद्रों और वैश्यों का भी श्याम रंग हो, पर ब्राह्मण और क्षत्रिय गौर वर्ण के हों। सारांश यह है कि उस समय की स्थिति तथा रूपक के प्रतिबंधों को ध्यान में रखकर, जहाँ तक संभव था वहाँ तक, वास्तविकता तथा सजीवता लाने के उपाय पर विचार किया गया है, और नियम बनाए गए हैं।

——

अनुक्रमणिका

आ

ई

उ

ऊ

ए

न

प